महाकवि-श्रीहर्षप्रणीतम्

# नैषध महाकाव्यम्

(तृतीय सर्ग)

[भूमिका, पूर्वाभास, अन्वय, शब्दार्थ, अनुवाद, जीवातु संस्कृत टीका, भावार्थ एवं व्याकरण से युक्त]



— सम्पादक एवं अनुवादक —
डॉ० रमेशचन्द जैन
एम० ए० पी-एच० डी, जैनदर्शनाचार्य, डी० लिट्०
[संस्कृत विभाग]
वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर

पीयूष भारती
जैन मन्दिर के पास,
बिजनौर, २४६७०१

प्रकाशक

पीयूष भारती
बिजनौर-२४६७०१



मुख्य वितरक
पूजा पब्लिशर्स (रजि०)
२ : ६, डा० मुखर्जी नगर, दिल्ली-११०००९

मुद्रक
स्वामी प्रेस
बिजनौर-२४६७०१

# प्राक्कथन

महाकवि श्री हर्ष कृत नैषधीयचरितम् अथवा नैषध महाकाव्यम् वृहत्त्रयी का अमूल्य रत्न है। इसमे २२ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग मे १०० से अधिक पद्य हैं। १३ वें और १९ वें सर्ग को छोडकर, जिनमे क्रमश ५५ और ६६ पद्य हैं, बाकी सभी सर्ग बडे हैं। इनमे नल एव दमयन्ती सम्बन्धी कथा निबद्ध है। श्री हर्ष का पाण्डित्य इसमे पद पद पर द्योतित हुआ है। काव्यग्रन्थों मे जो आलङ्कारिक शैली पायी जाती है, उसका इसमे चरम परिपाक हुआ है। इसके गुणो से आकर्षित होकर प्राय प्रत्येक विश्व-विद्यालय के सस्कृत विभाग ने इसे पाठ्यक्रम मे न्यूनाधिक रूप मे अवश्य रखा है। अनेक विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रम मे तृतीय सर्ग भी निर्धारित है। अत छात्रों के लाभार्थ इसका प्रकाशन कराया जा रहा है। आशा है, छात्र लाभ लेंगे।

रमेशचन्द जैन

९ R

# परीक्षाओं में पूछे गए प्रश्न

प्र १—सस्कृत महाकाव्यो मे नैषधीय चरितम् का स्थान निर्धारित कीजिए।

प्र २—नैषधे पदलालित्य की व्याख्या कीजिए।

प्र ३—'नैषध विद्वदौषधम्' अथवा नैषधे पाण्डित्य से आप क्या समझते हैं ? स्पष्ट कीजिए ।

प्र. ४—निम्नलिखित कथन पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए—

तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदय ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघ क्व च भारवि ॥

प्र ५—श्री हर्ष की काव्यशैली पर एक निबन्ध लिखिए।

# भूमिका

'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' —अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। यह शान्ति से परिपूर्ण क्षणों में लिखित कोमल शब्दों, मधुर कल्पनाओं एवम् उद्रेकमयी भावनाओं की समस्पृक् भाषा है। यह सहज रूप से तरंगित भावों का प्रकाशन है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का परिष्करण है[1]। संस्कृत का काव्य साहित्य बहुत विशाल और अनूठा है। इसके मुख्य दो भेद किये जाते हैं—(१) दृश्य काव्य और (२) श्रव्य काव्य। दृश्य काव्य के अन्तर्गत रूपक आता है। श्रव्यकाव्य के तीन तीन भेद हैं—(१) पद्य काव्य (२) गद्य काव्य और (३) चम्पू काव्य। पद्य काव्य तीन प्रकार का होता है—(१) महाकाव्य (२) खण्डकाव्य और (३) मुक्तक काव्य गद्य काव्य दो प्रकार का होता है—(१) कथा और (२) आख्यायिका।

महाकाव्य के लक्षण—महाकवि दण्डी ने काव्यादर्श में महाकाव्य का लक्षण निम्नलिखित रूप में दिया है—

> सर्गबद्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
> आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्॥
> इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
> चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्॥
> नगरार्णवशैलर्तु चन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
> उद्यान सलिलक्रीडा मधुपानरतोत्सवैः॥
> विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदय वर्णनैः।
> मन्त्र–दूत प्रयाणाजि नायकाभ्युदयैरपि॥
> अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
> सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः।

---

१ डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान पृ १

सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलङ्कृति ॥

काव्यदर्श १/१४–१६

अर्थात् महाकाव्य का लक्षण सर्गबद्धता है । उसका प्रारम्भ आशीर्वाद, नमस्कार अथवा वस्तु निर्देश पूर्वक होता है । इसका कथानक इतिहास अथवा अन्य किसी उत्कृष्ट चरित्र पर आधारित होता है । यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग के फल से युक्त होता है । इसका नायक चतुर और उदात्त होता है । यह नगर, समुद्र, पर्वत ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान क्रीड़ा, मद्यपान रतोत्सव विप्रलम्भ विवाह, कुमारोदय मन्त्रणा, दूतप्रेषण प्रयाण तथा नायक के अभ्युदय से अलङ्कृत होता है । यह अधिक संक्षिप्त नहीं होता है तथा रस और भाव से व्याप्त होता है । इसमें सर्ग न अधिक बड़े और न अधिक छोटे होने चाहिए । छन्द सुनने में सुखकर होना चाहिए तथा सुसन्धियाँ होना चाहिए । प्रत्येक सर्ग के अन्त में भिन्न छन्द होना चाहिए । सभी प्रकार अलङ्कृत लोकरञ्जक इस प्रकार का काव्य प्रलय काल पर्यन्त स्थायी होता है ।

नैषधीयचरितम् एक महाकाव्य —काव्यादर्श में दिए गए उपर्युक्त लक्षण नैषधीयचरितम् में प्राप्त होते हैं । इसमें २२ लम्बे-लम्बे सर्ग हैं तथा सम्पूर्ण पद्यों की संख्या २८३० है इसके नायक निषधदेश के अधिपति नल है । नल में धीरोदात्त नायक के सभी गुण विद्यमान हैं । नैषधीयचरितम् का प्रारम्भ वस्तु निर्देश पूर्वक होता है । यहाँ नल की कथा को अमृत से भी अधिक श्रेष्ठ माना है । इस महाकाव्य शृङ्गार रस की प्रधानता है तथा अन्य रस उसी के अङ्ग रूप में प्रस्तुत हुए हैं । प्रत्येक सर्ग में प्रायः एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है । सर्ग के अन्त में भिन्न छन्द है । बारहवें सर्ग में विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिसमें वसन्त छन्द की प्रमुखता है । इसमें नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु चन्द्रमा सूर्य, उद्यान क्रीड़ा, विवाह, रतोत्सव, मन्त्रणा, दूतप्रेषण, प्रयाण एवम् नायक के अभ्युदय का वर्णन है । इसकी कथावस्तु इतिहासिक है । इसमें मुख सन्धि, निर्वहण सन्धि आदि सन्धियों का निर्वाह हुआ है । इस प्रकार इसमें महाकाव्य के गुण पूर्णतया परिलक्षित होते हैं ।

नैषधीयचरितम् से पूर्व महाकाव्य की परम्परा —आदिकवि वाल्मीकि कृत रामायण संस्कृत का सर्वप्रथम महाकाव्य है । इसमें महाकाव्य के सभी गुण विद्यमान हैं । इसकी रचना अलङ्कृत सुललित शैली में हुई । रामायण के समान

महाभारत एक बहुत बडा महाकाव्य है। इसे इतिहास पुराण भी कहा जाता है। संस्कृत काव्यकारो ने अपनी रचनाओं के लिए जहाँ रामायण से रूपशिल्प का ग्रहण किया, वहाँ कथावस्तु के लिए उन्होंने प्राय 'महाभारत' को आधार बनाया। पाणिनि ने जाम्बवती परिणय और पातालविजय नामक दो काव्य लिखे थे। वररुचि ने कण्ठाभरण नामक काव्य लिखा था। किन्तु ये रचनायें आज उपलब्ध नहीं हैं। प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में होने वाले महाकवि अश्वघोष ने बुद्धचरित और सौन्दरनन्द काव्य लिखे। सौन्दरनन्द अश्वघोष का प्रथम महाकाव्य है। इसके १८ सर्गो मे अपने अग्रज तथागत बुद्ध के उपदेशो से प्रभावित होकर विमातृज नन्द की अपनी पत्नी सुन्दरी से तथा सामाजिक बन्धनो से विमुक्त होकर प्रव्रज्या की कथा वर्णित है। बुद्धचरित मे भगवान् बुद्ध का चरित्र वर्णित है। अश्वघोष के काव्य का प्रभाव कालिदास पर पडा। कालिदास का रघुवश उन्नीस सर्गो का काव्य है। इसमे कालिदास की काव्यप्रतिभा श्रेष्ठतम रूप मे प्रस्फुटित हुई है। कालिदास के समय के विषय मे लोगो मे मतभेद है, कुछ इन्हे विक्रमादित्यकालीन और कुछ गुप्तयुगीन मानते है। कालिदास ने कुमार सम्भव नामक काव्य लिखा, जिसमे शिव-पार्वती के विवाह एवम् उनसे कुमार कार्तिकेय की उत्पत्ति की कथा का निरूपण है। कुछ विद्वान् इसे खण्डकाव्य तथा कुछ महाकाव्य के अन्तर्गत परिगणित करते है। अश्वघोष और कालिदास के बाद ५२० ई० के लगभग लङ्का के राजा कुमारदास का 'जानकीहरण' काव्य मिलता है। 'जानकीहरण' की रचना २५ सर्गो मे हुई थी किन्तु अब उसके १५ सर्ग ही प्राप्त होते है। इसकी वर्णन शैली रोचक है। महाकाव्य परम्परा की महत्वपूर्ण उपलब्धि भारवि कृत 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य है। भारवेरर्थगौरवम् प्रसिद्ध है। संस्कृत महाकाव्यो की बृहत्त्रयी (किरातार्जुनीयम शिशुपालवध एवम् नैषधीय चरितम) मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारवि के पश्चात् जैनाचार्य रविषेण (६६७ ई०) द्वारा लिखा हुआ अठारह हजार अनुष्टुप श्लोक प्रमाण 'पद्मचरित' महाकाव्य संस्कृत के जैनकथा साहित्य का आद्य ग्रन्थ है। यह रामकथा सम्बन्धी सबसे प्राचीन संस्कृत जैन रचना है। इसकी शैली सरल प्रभावशाली और शान्त है। नैतिकता और धार्मिकता के प्रति इसका झुकाव है। भारवि की शैली का अनुसरण कर उसकी कला को अत्यधिक प्रौढ रूप देने वाले कवियो मे माघ का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। इनका काल नौवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव दण्डी का पदलालित्य, माघ का व्याकरण विषयक पाण्डित्य आदि गुणो का सुमेल माघ की कविता मे हुआ है। 'उपमा अर्थगौरव एवम् पदलालित्य गुणो के कारण विद्वानो मे माघे सन्ति त्रयो गुणा' सूक्ति प्रचलित है। माघ के शिशुपालवध महाकाव्य का

आधार महाभारत है। 'शिशुपालवध' में माघ ने कृष्ण एवम् शिशुपाल के वैर तथा कृष्ण द्वारा शिशुपाल का वध किए जाने की घटना का काव्यात्मक वर्णन किया है। माघ के पाण्डित्य को देखकर किसी ने ठीक ही कहा था—माघे मेघे गतं वयः ।

आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखित वराङ्गचरित सुप्रसिद्ध जैनकाव्य है। इसमें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा श्रीकृष्ण के समकालीन वराङ्ग नामक पुण्य पुरुष की कथावस्तु अङ्कित है। इसकी शैली और मनोहारिता बुद्धचरित से मिलती जुलती है। दसवीं शताब्दी में महाकवि वीरनन्दी ने चन्द्रप्रभचरित नामक काव्य लिखा। इसमें जीव की उत्तरोत्तर विकास सरणियों द्वारा तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का अनाविल चरित उपस्थित किया गया है। महाकाव्य के समस्त चरित्र मानवीय धरातल पर मानवीय सम्भावनाओं की पीठिका में चित्रित किए गए हैं। इसी कारण आदर्श के गहरे रंगों में रंग होने पर भी उनका प्रकृत जीवन से सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं हो पाया है। दसवीं शताब्दी में महाकवि असग ने शान्तिनाथ चरित और वर्द्धमानचरित नामक महाकाव्यों की रचना की। इन दोनों महाकाव्यों में महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षण पाए जाते हैं। शान्तिनाथचरित' में सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ और वर्द्धमान चरित में चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान का जीवनवृत्त अङ्कित है। ये काव्य दार्शनिक और धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत हैं।

दसवीं शताब्दी में महाकवि वादिराज ने पार्श्वचरित की रचना की है। यह बारह सर्गों का महाकाव्य है। इसमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र अङ्कित है। कवि की कल्पना शक्ति बहुत ही उन्नत है। ग्यारहवीं शताब्दी में महाकवि महासेन ने प्रद्युम्नचरित की रचना की है। इस महाकाव्य में चौदह सर्ग है और श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित इसमें वर्णित है। पुण्यपुरुष प्रद्युम्न का चरित इतना लोकप्रिय रहा है कि इसका अवलम्बन लेकर अपभ्रंश और हिन्दी में चरित ग्रन्थ लिखे गए हैं। ई० १०७५ से ११७५ के मध्य होने वाले महाकवि हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय एक सुप्रसिद्ध महाकाव्य है। इसमें पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित वर्णित है। इसकी कथावस्तु २१ सर्गों में विभाजित है। इसमें कवि ने भाव सौंदर्य की व्यापक परिधि में कल्पना, अनुभूति, संवेग, भावना, स्थायी और संचारी भावों का समावेश किया है। यहाँ शान्तरस और शृङ्गार रस का अपूर्व चित्रण हुआ है। इस प्रकार नैषधकार श्री हर्ष से पूर्व संस्कृत महाकाव्यों की एक विस्तृत एवम् मनोहारी परम्परा दृष्टिगोचर होती है।

**नैषधीयचरितम् के कर्त्ता**—काव्य अलङ्करण के पूर्ववर्ती समस्त कवियों के गुणों को लेकर 'नैषधीयचरितम्' के कर्त्ता श्री हर्ष की कविता उपस्थित

होती है। श्री हर्ष अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि और विद्वान् थे। दूर–दूर तक उनकी कीर्ति–कौमुदी का प्रसार हो गया था। सरस पदों का गुम्फन, भावों का अनुपमेय प्रवाह प्रौढ़ कल्पना शक्ति सौंदर्य का मनोरम चित्रण एवम् अलङ्कारों की छटा नैषधचरित को अलङ्कृत काव्य के कर्त्ताओं में सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है। पाण्डित्य के लिए वे प्रसिद्ध है। उनका नैषध काव्य विद्वानों के लिए औषधितुल्य है। पदलालित्य नैषध का विशेष गुण है।

श्री हर्ष अपनी अलौकिक प्रतिभा तथा अपने काव्य की मधुरता से स्वत परिचित थे और इसका उन्हें गर्व भी था। अपने काव्य के लिए 'कवि कुलादृष्टाध्वपान्थ' (८/१०९) तथा 'अन्याक्षुण्ण रसप्रमेयभणिति' (२० वें सर्ग का अन्तिम पद्य) का प्रयोग उनके नवीन रसमय मार्ग के आश्रयण का सकेत कर रहा है। उन्होंने 'नवार्थघटना' की अपनी प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह इस काव्य में किया है (एकामत्यजतो नवार्थ घटनाम्) तथ्य यह है कि नैषधचरित में वैदर्भी और पाञ्चाली का परम मजुल योग काव्य की उदात्तता का पूर्ण परिचायक है। श्री हर्ष विशुद्ध विदग्ध पदावली के आदरणीय आचार्य है। वक्रोक्ति के द्वारा सामान्य अर्थ की अभिव्यञ्जना कला के वे पूर्ण पण्डित हैं[१]।

श्रीहर्ष का जीवन परिचय —नैषधीय चरित के प्रत्येक सर्ग की समाप्ति के पद्य में श्री हर्ष ने अपने पिता का नाम श्रीहीर तथा माता का नाम मामल्लदेवी बतलाया है। उदाहरणार्थ प्रथम सर्ग के अन्त में कहा गया है।

> श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत
> श्रीहीर सुषुवे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम्।
> तच्चिन्तामणि मन्त्रचिन्तन फले श्रृङ्गारभङ्ग्या
> महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गत ॥

अर्थात् श्रेष्ठ कवियों की श्रेणी के मुकुट के अलङ्कार हीरे के समान श्रीहीर और मामल्ल देवी ने जिस श्री हर्ष नाम के पुत्र को उत्पन्न किया, उन श्री हर्ष के चिन्तामणि नामक मन्त्र की उपासना के फलस्वरूप शृङ्गार की विचित्रता से मनोहर नैषधीयचरित नामक महाकाव्य में यह पहला सर्ग समाप्त हुआ।

किवदन्तियों के अनुसार न्याय कुसुमाजलि के प्रसिद्ध लेखक नैयायिक उदयनाचार्य के साथ इनके पिता श्री हीर का शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें वे पराजित हो गये। इस पराजय से लज्जित होकर हीर ने अपना देह छोड़ दिया और मरते समय पुत्र से यह कहा कि वह उनके शत्रु को शास्त्रार्थ में हराकर बदला ले।

---

१ प बलदेव उपाध्याय सस्कृत साहित्य का इतिहास पृ २७३

श्री हर्ष ने पण्डितों से शास्त्रों का अध्ययन किया और त्रिपुर सुन्दरी की आराधना के लिए 'चिन्तामणि' मन्त्र का एक वर्ष तक जप किया। देवी ने प्रसन्न होकर उन्हें अपराजेय पाण्डित्य प्रदान किया। श्री हर्ष वर प्राप्त कर विजयचन्द्र की सभा में गये, किन्तु उनकी वाक्शैली को कोई भी न समझ पाया। फलतः निराश होकर उन्होंने पुनः देवी की आराधना की।

देवी ने प्रसन्न होकर कहा अच्छा रात को सिर गीला कर दही पी लेना कफ गिरने के साथ तुम्हारा पाण्डित्य कम हो जायेगा श्री हर्ष ने ऐसा ही किया [1]। कहा जाता है कि श्री हर्ष ने अपनी प्रतिभा एवम् पाण्डित्य के बल पर खण्डनखण्डखाद्य नामक वेदान्त ग्रन्थ से उदयनाचार्य को परास्त किया था।

श्री हर्ष का समय —महाकवि श्रीहर्ष कान्यकुब्ज (कन्नौज) और वाराणसी के महाराज विजयचन्द्र और जयचन्द्र के सभापण्डित थे और वे कान्यकुब्जेश्वर से पान के दो बीड़े और आसन पाते थे तथा समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार करते थे। उनका काव्य मधु की वर्षा करने वाला है और तर्कों में उनकी उक्तियाँ शत्रुओं का परास्त करने वाली है। यह बात नैषधीयचरित के अन्त में स्थित निम्नलिखित पद्य से जानी जाती है—

> ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा
> द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णविम्।
> यत्काव्यं मधुवर्षि, धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
> श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥ २२/१५३

विजयचन्द्र तथा जयन्तचन्द्र का राज्यकाल ११५६ ई० से ११९३ ई० तक माना जाता है। अतः यह सुनिश्चित है कि श्री हर्ष बारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे।

श्रीहर्ष की रचनायें —श्रीहर्ष ने नैषधीय चरितम् में अपनी निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख किया है—

१- स्थैर्यविचार प्रकरण २- विजय प्रशस्ति ३- खण्डनखण्ड खाद्य
४- गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति ५- अर्णववर्णन ६- छिन्द प्रशस्ति
७- शिव शक्ति सिद्धि ८- नवसाहसाङ्क चरितचम्पू
९- नैषधीय चरितम्।

---

१- डॉ भोला शङ्कर व्यास संस्कृत कवि दर्शन पृ १९३–१९४

नैषधीयचरितम् की कथावस्तु —'नैषधीय चरितम्' २२ सर्गों का बहुत बड़ा काव्य है, जिसमें प्रत्येक सर्ग में १०० से अधिक पद्य हैं। १३ वें और १६ वें सर्ग को छोड़कर, जिनमें क्रमशः ५५ और ६६ पद्य हैं, बाकी सभी सर्ग बड़े हैं। इसमें नल एवम् दमयन्ती सम्बन्धी लघुकथा निबद्ध है। प्रारम्भ में राजा नल के गुणों का विस्तृत वर्णन किया गया है। नल के गुणों को दूत, द्विज तथा बन्दियों के मुख से सुनकर दमयन्ती के मन में नल के प्रति अनुराग हो जाता है। दमयन्ती के अलौकिक सौन्दर्य के विषय में सुनकर नल भी उसे चाहने लगता है। दमयन्ती का विरह जब नल को असह्य लगता है तो वह उद्यान में अपने घुड़सवारों और मित्रों के साथ विहार करता है। वहां एक सुनहले हंस को तालाब के किनारे देखकर नल उसे पकड़ लेता है। हंस करुण विलाप करता है, फलतः नल उसे छोड़ देता है। कृतज्ञ हंस राजा नल के प्रति दमयन्ती के मन में आसक्ति उत्पन्न करने की प्रतिज्ञा करता है। कृतज्ञ हंस कुण्डिनपुर को प्रस्थान करता है। दमयन्ती कुण्डिनपुर के उद्यान में क्रीडा कर रही थी। वहां हंस को देखकर उसे पकड़ने की दमयन्ती के मन में स्पृहा होती है। सखियाँ इस कार्य का निषेध करती हैं। दमयन्ती सखियों की बात न मानकर हंस को पकड़ने चल देती है। हंस दमयन्ती को उद्यान में दूर तक ले जाता है। वह मनुष्यवाणी में अपना परिचय देकर नल के गुणों की प्रशंसा करता है। दमयन्ती नल को पाने के लिए और भी अधिक उत्कण्ठित हो जाती है। हंस नल की विरहावस्था का भी वर्णन करता है। इसी समय दमयन्ती को ढूंढती हुई उसकी सखियाँ आ जाती हैं। दमयन्ती सखियों के साथ चल पड़ती है। हंस लौटकर राजा नल के पास आकर कार्यसिद्धि की सूचना देता है। दमयन्ती नल के वियोग में दुःखी हो मूर्च्छित हो जाती है। उसकी करुण अवस्था सुनकर राजा भीम आते हैं और स्वयम्वर की सूचना देकर दमयन्ती को आश्वस्त करते हैं। दमयन्ती के स्वयम्वर का अनेक राजाओं को निमन्त्रण दिया जाता है। इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम देवता दमयन्ती के स्वम्वर में आते हैं। मार्ग में रथारूढ नल के सौन्दर्य को देखकर उन्हें दमयन्ती की प्राप्ति की आशा नहीं रहती है। अतः वे किसी प्रकार समझाकर नल को दूत बनाकर दमयन्ती के समीप भेजते हैं। नल तिरस्करिणी विद्या के सहारे दमयन्ती के महल में पहुँचते हैं। वहां वे इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण की अवस्था का वर्णन कर वे इनमें से किसी एक का वरण करने हेतु दमयन्ती से प्रार्थना करते हैं। दमयन्ती अपने निश्चय में च्युत नहीं होती है। नल इन्द्र आदि देवताओं से दमयन्ती के दृढ़ निश्चय के विषय में कहते हैं।

चारो देवता नल का ही रूप धारण कर स्वयम्वर सभा में उपस्थित होते है। सरस्वती स्वयं उस सभा में आकर आगत राजाओं का परिचय देती है। नल की आकृति वाले पाँच पुरुषों को देखकर दमयन्ती घबड़ा जाती है। अन्त में दमयन्ती के नल प्रति अनन्य अनुराग को देखकर देवता प्रसन्न होकर अपना स्वरूप प्रकट करते हैं। दमयन्ती नल को पहचान लेती है। दोनों का विवाह होता है। देवगण स्वर्ग को जाते समय मार्ग में कलियुग को देखते है। कलि नास्तिकवाद का प्रतिष्ठापन करता है। देवता उसका खण्डन करते हैं। नल-दमयन्ती का प्रथम समागम होता है। अनन्तर राजा-रानी की दैनिक चर्या का वर्णन है, जिसमें देव स्तुति सूर्योदय और विलासमय चाटूक्तियों के सरसचित्र है। यहीं काव्य की परिसमाप्ति हो जाती है।

नैषधीयचरितम् की कथावस्तु का मूल स्रोत —नैषधीयचरितम् की कथावस्तु का आधार महाभारत में वर्णित नलोपाख्यान है। डॉ भोला शंकर व्यास के अनुसार महाभारत की कथा को नैषधकार ने तत्कालीन लोकसाहित्य की प्रणयगाथाओं से मिश्रित कर दिया जान पड़ता है। श्री हर्ष के काल में अपभ्रंश तथा देशभाषा के काव्यों में कई लोककथाओं की प्रणय गाथायें स्थान पा रही थी। नल दमयन्ती की कथा पौराणिक होते हुए भी लोककथा के रूप में प्रचलित थी। श्री हर्ष को इन दोनों स्रोतों से प्रेरणा मिली होगी।

नैषधीय चरितम् पर पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों का प्रभाव —डॉ चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने नैषधीयचरितम् पर पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों के प्रभाव का विस्तृत वर्णन अपने प्रसिद्ध शोध ग्रन्थ नैषधपरिशीलन में किया है। तदनुसार श्रीहर्ष कालिदास भारवि माघ, हरिचन्द्र, कृष्णमिश्र पुष्पदन्त भर्तृहरि आदि कवियों की रचनाओं से प्रभावित थे। श्रीहर्ष ने रघुवंश में विदर्भकुमारी इन्दुमती के स्वयंवर को देखा था अतः अपनी विदर्भकुमारी दमयन्ती के स्वयंवर की रूपरेखा में उन्हें बड़ी सरलता हुई। दमयन्ती के नख-शिख रूप वर्णन की प्रेरणा, जिसमें श्रीहर्ष ने एक पूरा सर्ग लगाया है कुमारसम्भव के पार्वती रूप वर्णन (प्रथम सर्ग) से मिली है। कालिदास ने पार्वती के कुछ विशेष अङ्गों का ही सौन्दर्य चित्रित किया, किन्तु श्री हर्ष की आँखें दमयन्ती के प्रत्यवयव पर गईं जहाँ उन्हें आनन्द सुधाब्धि लहराता मिला और जहाँ अवगाहन करके उनमें प्रमादाश्रु की झड़ी लग गई। नल-दमयन्ती संवाद का कथानक महाभारत में लिया गया है, किन्तु उसकी वर्णन शैली का आधार कुमारसम्भव का शिव

पात्रनी मनाद है। नैषध के प्रथम सग का घाडे का वर्णन माघ के सेना प्रयाण के वर्णन से प्रभावित है। इसी प्रकार सूर्योदय और सूर्यास्त के नैषध के वर्णन का प्रेरणा स्रोत माघकाव्य है। नैषध के २१ वे सर्ग का दशावतार वर्णन क्षेमेन्द्र द्वारा १०६६ ई० मे लिखे दशावतारचरितम् से प्रभावित प्रतीत होता है। बिल्हण के विक्रमाङ्क देवचरित् मे नायिका का नखशिख वर्णन बहुत कुछ नैषध के सातवें सर्ग के दमयन्ती के चित्रण के समान है और सम्भवत इसने नैषध के चित्रण को प्रभावित किया है और भी अनेक स्थानो पर अनेक भावो म वे काव्य परम्परा के ऋणी है। श्रीहर्ष धमशर्माभ्युदय काव्य से पूर्ण परिचित समझ पडते हैं। नैषध मे एक स्थान पर तो उन्होंने श्लेष के सहारे इसका नामोल्लेख भी कर दिया है वरण स्वयवर के अन्त मे नल को वरदान देते हुए कहते है— आपके अग का सयोग पाकर पुष्पो मे म्लानि (मुरझाहट) न होगी और उनमे दिव्य सुगन्ध आ जायेगी। मुझे पुष्प के अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु नही दिखाई पडती जो धर्म तथा श्रेय (शर्म) दोनो का साधक हो।[1] यद्यपि धर्मशर्म का एक साथ देखकर उसमे धर्मशर्माभ्युदय का सकेत समझना द्राविड-प्राणायाम है, किन्तु अनेक स्थलो मे भावसाम्य तथा वर्णनशैली साम्य देखकर यह अनुमान करना सुसम्भव है।"[2]

महाकवि हरिचन्द्र ने महासेन की महिषी सुव्रता के अनिन्द्य लावण्य का चित्रण करते हुए कहा है कि विधाता ने ससार की समस्त सुन्दर वस्तुओ का सार लेकर इस महिषी के मुख का सृजन किया है। यथा—

द्रुमोत्पलात्सौरभमिक्षुकाण्डत फल मनोज्ञा मृगनाभित प्रभाम्॥
विधातुमस्या इव सुन्दर वपु कुतो न सार गुणमाददे विधि ॥ धर्म २/६५

ऐसा लगता है कि विधाता ने इसका सुन्दर शरीर बनाने के लिए कमल से सुगन्ध ईख से फल और कस्तूरी से मनोज्ञ प्रभा ली है।

नैषध मे दमयन्ती के मुख सौन्दर्य के निर्माण के हेतु चन्द्र, उत्पल और मृगनयन आदि सार लिये जाने की कल्पना की गयी है। यथा—

हृतसारमिवेन्दुमण्डल दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिल विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिमाम् ॥ नैषध २/२५

---

१ नैषधचरित् १४/८५।
२ नैषध परिशीलन, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, सन् १९६० पृ १४२।

दमयन्ती के मुख की रचना के लिए विधाता ने मानो चन्द्रमण्डल का श्रेष्ठ अंश ले लिया था जिससे चन्द्रमा के मध्य में गर्त बन गया और वह गर्त इतना गहरा हुआ कि उस पार का आकाश की नीलिमा दिखलाई पड़ने लगी।

दमयन्ती के नेत्रों की रचना के लिए बड़े प्रयत्न के साथ इसके फलस्वरूपी यन्त्र द्वारा चकोर नेत्रों से मृगनयना का तथा कमलों से अमृत-प्रवाह पूर्ण वह श्रेष्ठ भाग निकाला है। यथा–

चकोरनेत्रैणदृगुत्पलानां निमेषयन्त्रेण निमेष वृष्ट ।
सार सुधोदगारमय प्रयत्नैर्विधातुमेतन्नयने विधातुः ।। नैषध ७/२०

धर्मशर्माभ्युदय में स्तुत्य के नेत्रों का वर्णन करते हुए लिखा है—

चकार यो नेत्रचकोरचन्द्रिकामिमामनिद्या विधिरन्य एव स ।
कृतोऽन्यथा वेदनयान्वितात्ततोऽप्यभूदगन्दद्युतिरूपमीदृशम् ।। धर्म -/२८

स्पष्ट है कि नैषधकार ने अपनी कल्पना को उक्त धर्मशर्माभ्युदय की कल्पना से पल्लवित करने में प्रेरणा प्राप्त की होगी।

धर्मशर्माभ्युदय में विदर्भाधिपति प्रतापराज की दुहिता श्रृंगारवती के सौन्दर्य वर्णन प्रसंग में कवि ने कहा है—

एतां धनुर्यष्टिमिवैष मुष्टिग्राह्यैकमध्यां समवाप्य तन्वीम् ।
नृपानशेषानपि लाघवेन तुल्यं मनोभूरिषुभिर्जघान ।। धर्म १७/१८

मुट्ठी में पकड़े जाने योग्य कटिवाली इस सुन्दरी को अपनी धनुलता बनाकर कामदेव ने सारे राजाओं को एक साथ अपने बाणों का लक्ष्य बनाया।

नैषध में आया है कि नल का अन्तःपुर में दमयन्ती क्षीणकटिप्रदेशवाली कुसुमधनुलता-सी प्रतीत होती है। कवि श्रीहर्ष ने सम्भवतः धर्मशर्माभ्युदय के उक्त पद्य से प्रेरणा प्राप्त की होगी।

सेयमृदु कौसुमचापयष्टि स्मरस्य मुष्टिग्रहणार्हमध्या ।
तनोति नः श्रीमदपाङ्गमुक्ता मोहाय या दृष्टिशरौघवृष्टिम् ।। नैषध ७/२६

मुट्ठी में ग्रहणयोग्य कटि प्रदेशवाली यह सुन्दरी मदन की कुसुम-धनुलता ही है जो हम मोहित करने के लिए अपने श्रीमान् अपांगों से कटाक्ष-बाणों की वृष्टि करती है।

श्रृंगारवती के स्वयंवर का प्रभाव भी दमयन्ती स्वयंवर पर प्रतीत होता है। स्वयंवर में पधारे राजकुमार विदर्भराजदुहिता श्रृंगारवती को देखते हैं। कवि हरिचन्द्र ने उनकी इस दृष्टि का निरूपण करते हुए कहा है—

यद्यत्र चक्षुः पतितं तदङ्गे तत्रैव तत्कान्तिजले निमग्नम् ।
शेषाङ्गमालोकयितुं सहस्रनेत्राय भूपाः स्पृहयाबभूवुः ॥ धर्म १७/१५

शृङ्गारवती के जिस अङ्ग में चक्षु पड़ते थे, वहीं-वहीं कान्तिरूपी जल में डूब जाते थे । अतः अवशिष्ट अङ्ग देखने के लिए राजा लोग सहस्र नेत्र की इच्छा करते थे।

दमयन्ती के रूपमाधुर्य का पान करते समय नल के नेत्रों की भी लगभग ऐसी ही स्थिति हुई है । दमयन्ती की दृष्टि भी नल के रूप को देखने में डूब गयी है ।

तत्रैव मग्ना यदपश्यदग्रे नास्या दृगस्याङ्गमयास्यदन्यत् ।
नादास्यदस्यै यदि बुद्धिधारा विच्छिद्य चिरान्निमेषः ॥ नैषध ८/६

दमयन्ती की दृष्टि नल के जिस अङ्ग पर पड़ी उसी में डूबकर रह गयी, दूसरे अङ्ग को प्राप्त नहीं हुई । पर बहुत देर तक रुक-रुक कर पलकें गिरने से उनकी बुद्धि का विच्छेद होने के कारण वह अन्य अङ्गों को देख पायी ।

धर्मशर्माभ्युदय में बताया गया है कि दिव्याङ्गनाएं प्रथम महासेन को सूत्ररूप में अपने आगमन का प्रयोजन कहती हैं पश्चात् भाष्य कर विस्तृत रूप में समझाती हैं ।

उक्तमागमनिमित्तमात्मनः सूत्रवत्किमपि यत्समासतः ।
तस्य भाष्यमिव विस्तरान्मया वर्ण्यमानमवनीपते शृणु ॥ धर्म ५/३०

इस उत्प्रेक्षा का प्रभाव नैषध के उस सन्दर्भ पर है, जिसमें दमयन्ती देवों को प्रत्युत्तर देते समय दूतरूप में प्रच्छन्न नल से प्रार्थना करती है ।

स्त्रिया मया वाग्मिषु तेषु शक्यते न तु सम्यग्विवरीतुमुत्तरम् ।
तदत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौ प्रबन्धृतास्तु प्रतिबन्धृता न ते ॥ नैषध ९/३७

मेरी सूत्ररूप में कही हुई बात के प्रति हे दूत, तुम भाष्यकार बनना दूषणकार नहीं, क्योंकि मैं अबला उन विद्वानों को उत्तर ही क्या दे सकती हूँ ।

इस प्रकार नैषध में कई उत्प्रेक्षाएं धर्मशर्माभ्युदय से प्रभावित प्रतीत होती हैं ।[1]

नैषधे पाण्डित्य अथवा नैषधं विद्वदौषधम् —

श्री हर्ष ने नैषध की रचना में अपने समस्त ज्ञान भण्डार का परिचय प्रस्तुत किया है । परिणामस्वरूप काव्य काव्य न रहकर विविध विषयों का कोश बन गया है । [इसीलिए कवि के सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि "नैषध

१ संस्कृत काव्य के विकास में जैनकवियों का योगदान पृ० २७९–२८१

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया ।
या स्वौजसा साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात् ॥
नैषधीयचरितम् ३/२३

अर्थात् सज्जनों के विभाग का विचार किया जायगा तो नल नाम का व्यक्ति का पहले परिगणन करना चाहिए। जो अपने प्रताप से विलास से प्रचुर शत्रुओं के राष्ट्र को वश में करने के लिए समर्थ होगा। दूसरा पक्ष है—व्याकरण की विभक्तियों का विचार किया जायेगा तो उस प्रथमा विभक्ति का कथन करना चाहिए जो प्रथमा विभक्ति सु औ जस् इन प्रत्ययों के विलास से बहुत से सुबन्तपदों को सिद्ध करने में समर्थ होगी।

ज्योतिष शास्त्र में बुध को उत्तर दिशा का और गुरु को पूर्व दिशा का तथा शुक्र को दक्षिण पूर्व दिशा का स्वामी भी बतलाया गया है। उस प्रातः काल सूर्योदय के समय या जब तक सूर्य पूर्व दिशा से दूर नहीं चले जाते सूर्य को बुध एवम् शुक्र का सामीप्य मिलता है। श्रीहर्ष राजा नल का वर्णन करते समय श्लेष के सहारे ज्योतिष के पूर्वोक्त सिद्धान्त को सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं—

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ॥ १७ ॥

अर्थात् जैसे सूर्य शुक्र और बुध ग्रह के साथ प्रतिदिन उदित होता है उसी प्रकार राजा नल भी चतुर कवियों और विद्वानों के साथ रहकर प्रसन्नता से समय व्यतीत करता हुआ दिन दिन उन्नति को प्राप्त करता था।

ब्रह्मचर्य पालन की व्यवस्था में पाणिनि के सूत्र का निदर्शन प्रमाण दिया है—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥ १७/७०

अर्थात् 'अपवर्गे तृतीया' सूत्र को बनाने वाले पाणिनि का यही मत है कि स्त्री और पुरुष दो प्रकार की प्रकृति काम सेवन करे और तृतीया (अर्थात् नपुंसक) प्रकृति मोक्ष का सेवन करे अर्थात् मोक्ष तो केवल नपुंसकों के लिए है।

मोक्ष की सुख दुःख शून्यता का प्रतिपादन करने वाले गौतम पर ऐसी चोट की है—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः ॥ १७/७५

अर्थात् सहृदय प्राणियों के लिये जो सुख-दुख शून्य पाषाण रूप मुक्ति का उपदेश करे वह गोतम (अर्थात् निरा बैल) के सिवाय और क्या हो सकता है ?

श्रीहर्ष अन्य सभी दार्शनिक विकल्पों को भ्रम या अज्ञान का क्षेत्र समझते हैं। पारमार्थिक ज्ञान को वे चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मानते हैं। साधारण लौकिक व्यक्तियों का व भ्रान्त दिशा का आश्रय लेना समझते हैं, जो चतुष्कोटिविनिर्मुक्त अद्वैत ब्रह्मतत्त्व के होते हुए भी अन्य तत्त्वों की ओर उन्मुख होते हैं। दमयन्ती अपने सामने पाँच नलों को देख रही है। उनमें चार नल नकली हैं, पाँचवाँ असली। दमयन्ती उन्हें देखकर किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाती। वह असली नल को नहीं पहिचान पाती है। आरम्भ के चार नकली नल उस (चतुष्कोटिविनिर्मुक्त) नल (ब्रह्म) तक दमयन्ती को ठीक उसी तरह नहीं पहुँचने देते, जैसे संसार में सत्, असत्, सदसत् या सदसद्विलक्षण इन चार तरह के दार्शनिक मन्तव्यों को लेकर चलने वाला जन सामान्य या भ्रान्त दार्शनिक उस अद्वैत तत्त्व तक नहीं पहुँच पाता —

साक्षात् प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये ता तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मतानामद्वैततत्त्व इव सत्यपरेऽपि लोकः ॥
१३/३६

न्यायशास्त्र में मन को प्रति शरीर एक तथा अणुपरिमाण बतलाते हुए कहा गया है—

"ज्ञानयोगपद्यादेकं मनः" तथा "यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु" न्यायसूत्र
३/२/५६, ५९

नल के अत्यन्त वेगवान् अश्व के चरण में लगी धूल के प्रति श्रीहर्ष की उत्प्रेक्षा है—

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः १/५९ ॥

निरन्तर भूमितल के ताडन से उठी हुई धूलियों से, मानो वेग के अतिशय को सीखने के लिए आये हुए, अणुपरिमाणयुक्त, लोगों के चित्तों से, चरणों में सेवा किये जाते हुए अश्व पर चढ़ा।

---

१ संस्कृत कवि दर्शन पृ २०६

तात्पर्य यह है कि नल का घोडा निरन्तर खुरो से भूमि खोद रहा था इसलिए सूक्ष्म धूलि उठ उठकर उसके पैरो से लिपट रही थी। इसी को लेकर कवि ने अद्भुत कल्पना की है कि धूलि कण मानो लोगो के चित्त जिन्हे न्यायशास्त्र मे अणुपरिमाण माना गया है उस घोडे से वेगातिशय सीखने के लिए उसके चरणो मे बैठता है।

श्रीहर्ष स्वय अद्वैत वेदान्ती है। अन्य दर्शनो के मतो का चित्रण उन्होने पूर्व पक्ष के रूप मे किया है और उनका खण्डन करके उनका मजाक उड़ाया है। उनके व्यग्य महत्त्वपूर्ण और मनोरजक है। वैशेषिक दर्शन तम को दसवाँ द्रव्य मानता है। श्रीहर्ष व्यग से ही कहते है कि अन्धकार के स्वरूप के निरूपण मे वैशेषिक मत ठीक है क्योकि उस मत का औलूक दर्शन (१ कणाद का वैशेषिक दर्शन २ उल्लू का नेत्र) कहते है अत वही अन्धकार के तत्त्व के निरूपण मे क्षम है—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणाया वैशेषिक चारु मत मत मे।
औलूकमाहु खलु दर्शन तत्क्षम तमस्तत्त्वनिरूपणाय ॥ नैषधीयचरितम्
२२/३८

मीमासा दर्शन के अनुसार ज्ञान स्वत प्रमाण माना गया है क्योकि यदि एक ज्ञान अपनी यथार्थता सिद्ध करने के लिए दूसरे ज्ञान को प्रमाण माने तो दूसरे को भी अपनी यथार्थता सिद्ध करने के लिए एक तीसरा ज्ञान प्रमाण रूप मे ढूढना पडेगा, जिससे अनवस्था हो जायगी तथा वस्तु का ज्ञान असम्भव हो जायगा। श्रीहर्ष मीमासा के इस सिद्धान्त का उल्लेख करते है। हस से दमयन्ती के प्रेम की भीख मागने वाले नल कहते है—

अथवा भवत प्रवर्तना न कथ पिष्टमिय पिनष्टि न ।
स्वत एव सता परार्थता ग्रहणाना हि यथा यथार्थता ॥ नैषधीयचरितम्
२/६१

अर्थात् अथवा आपको इस प्रकार अपनी भलाई के लिए मेरा प्रेरित करना पिष्ट पेषण ही करना होगा, क्योकि सज्जन तो स्वय परोपकारी होते है जैसे ज्ञानो की प्रामाणिकता स्वत होती है।

साख्य दर्शन के अनुसार उत्पत्ति के पूर्व कारण मे कार्य की सत्ता रहती है। साख्य कारिका मे इस सत्कार्यवाद के समर्थन मे असदकरणात् आदि पाँच हेतु दिये गये हैं। श्रीहर्ष ने साख्य के सत्कार्यवाद की ओर सकेत किया है। इन्द्र आदि देवताओ को याचक रूप मे सामने खडे देखकर आनन्दातिरेक मे राजा नल कहते है—

नान्तिजन्यजनकव्यतिभेदः सत्यमन्नजनितो जनदेहः ।
वीक्ष्य वः खलु तनूममृतादाहङ् निमज्जनमुपैति सुधायाम्॥ नैषधीयचरितम्
५/९४

अर्थात् जन्य-जनक में भेद नहीं होता। मनुष्य देह सचमुच ही अन्न से उत्पन्न है। आपके अमृतभोजी शरीर को देखकर मेरी दृष्टि अमृत में मज्जन सी कर रही है।

योग दर्शन में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकार की समाधि मानी गई है। वेदान्तदर्शन में इन्हीं को क्रम से सविकल्प तथा निर्विकल्प समाधि कहा है। नैषध में भगवान् विष्णु की स्तुति करते हुए राजा नल सम्प्रज्ञात समाधि में लीन हो जाते हैं—

इत्युदीर्य स हरिं प्रति सम्प्रज्ञातवासिततमः समपादि ।
भावनाबलविलोकितविष्णौ प्रीतिभक्तिसदृशानि चरिष्णुः ॥
नैषधीयचरितम् २१/११८

अर्थात् इतनी प्रार्थना करके राजा नल भगवान विष्णु का साक्षात्कार करके भक्ति के उद्रेक में उन्मत्त हो गाने तथा घूमने लगे।

विष्णु के बुद्धावतार की स्तुति के प्रसङ्ग में नल ने उन्हें अद्वयवादी तथा क्षणिकवादी [illegible] बताया है—

[illegible]तिरद्वयवादिसत्रयी तरिचितो सुगतस्त्वम् ।
पाहि मा विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाणविजयी षडभिज्ञ ॥
नैषधीयचरितम् २१/८७

अर्थात् 'प्रभो आपका यह बुद्धरूप मेरी रक्षा करे, जिसने चित्त को क्षणिक माना है, जिसने केवल ज्ञानरूप वस्तु की सत्ता सत्य मानी है, वेद का प्रामाण्य न मानने हुए जो ज्ञानी है, जिसने चारों कोटियों का निराकरण कर दिया जो कामविजयी था तथा जिसकी अभिज्ञा छः प्रकार की थी।

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग माना गया है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः ॥ तत्त्वार्थसूत्र १/१

उपर्युक्त तीनों को रत्नत्रय की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। दमयन्ती दूत रूप में देवों का वरण करने के प्रसङ्ग में अपने चरित्र की उज्ज्वलता को व्यक्त करती हुई इसी त्रिरत्न का उल्लेख करती है—

"जिस सम्यक् चारित्र रूपी चमचिन्तामणि को जिन ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप त्रिरत्न मे रखा है उसे जिस रूपी न शङ्कर की कोपाग्नि मे भस्म हुए मदन के लिए त्यागा उसने मानो अपन कुल मे ही वह राख उडाई।

विहार की भूमि भगवान् महावीर का जन्मस्थान होने के कारण बडी पवित्र है। नल के घुडसवार जब विहारभूमि म पहुचे तो उन्होने घो ो मे मण्डलाकार गति कराकर अपनी श्रद्धा का परिचय दिया—

चमूचरारतस्य नृपस्य सादिनो
जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवा ।
विहारदेश तमवाप्य मण्डली
मकारयन् भूरि तुरङ्गमानपि ॥ नै० १/७१ ॥

उस राजा की सेना के सिन्धु देश मे उत्पन्न घोडे वा र घुडसवारो ने जिनेन्द्र भगवान की उक्तियो मे श्रद्धा रखने के कारण मानो उस विहारभूमि वा प्राप्त कर के घोडो म भी बहुत मण्डलाकार गति करायी।

नैषध मे चार्वाक् वद की प्रामाणिकता पर आक्षेप करता हुआ कहता है—

ग्रावोन्मज्जनवद्यज्ञफले ऽपि श्रुति सत्यता।
का श्रद्धा तत्र धीवृद्धा कामाध्वा यत् खिलीकृत ॥ नै० १७/३७

जैसे पत्थर का पानी पर तैरना कभी सत्य नही, उसी प्रकार यज्ञ के फल के प्रति वेदवचन को भी सत्य नही माना जा सकता। इसी प्रकार अन्य वेदवाक्यो मे भी क्या आस्था की जाय, जिसके कारण से यह स्वेच्छाचारिता आप लोगो ने त्याग दी।'

बृहस्पति ने अग्निहोत्र, वेद, दण्डधारण करने तथा भस्म आदि लगाने को बुद्धिपौरुष रहित व्यक्तियो की जीविका का साधनमात्र कहा है। जैसा कि सर्वदर्शन सग्रह मे कहा गया है—

अग्निहोत्र त्रयोवेदास्त्रिदण्ड भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनाना जीविकेति बृहस्पति ॥ सर्वदर्शनसग्रह पृ १३

नैषध मे भी चार्वाक इसी मत को व्यक्त करता है—

अग्निहोत्र त्रयीतन्त्र त्रिदण्ड भस्मपुण्ड्रकम् ।
प्रज्ञापौरुषनि स्वानां जीविकेति बृहस्पति ॥ नै १७/३६

इस प्रकार अनेक प्रकरणों में श्रीहर्ष के पाण्डित्य के दर्शन होते है। उनके पाण्डित्य प्रदर्शन को देखते हुए आलोचकों का कहना है कि श्रीहर्ष पण्डित पहले है, कवि बाद में। पाण्डित्य प्रदर्शन में भी उनका दर्शन विषयक पाण्डित्य नैषध में उनके दर्शन ज्ञान को भलीभांति व्यञ्जित करता है।

## श्रीहर्ष की काव्य शैली –

श्रीहर्ष की काव्यशैली वैदर्भी है, किन्तु वह कालिदास के समान प्रसाद गुणमयी नहीं है। इसमें पाण्डित्य भरा हुआ है। हंस विलाप (१/८५-१२७) तथा हंस के कृतज्ञता प्रकाशन (२/६-१५) में कालिदास के समान प्रासादिकता है। कहीं कहीं लम्बे-लम्बे समासों के कारण उनकी शैली गौडी के समीप पहुँच गई है। जैसे–

सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डल ॥ १/२

जिसने दैदीप्यमान तेज की पंक्ति और कीर्तिमण्डल को सुवर्णदण्ड और अद्वितीय धवल छत्र बनाया, वह नल गुणों से अद्भुत था।

स्फुरद्धनुर्निस्वन तद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टि व्ययितस्य सङ्गरे।

अर्थात् चमकते हुए धनुष तथा निर्घोष वाले उस (राजा नल) रूपी मेघ के बाणों की घनी वर्षा से बुझे हुए।

श्रीहर्ष की शैली दुरूह है। उन्होंने स्वयं ही कहा है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रयत्नपूर्वक स्थान-स्थान पर जटिल गाँठों को डाल दिया है और अपने आपको विद्वान् समझने वाला दुष्ट मुख इस काव्य के साथ जबरदस्ती खिलवाड न करे। अपितु सज्जन पुरुष श्रद्धा के साथ पूजा किये गये गुरु से इसकी गाँठों को ढीली करवाकर इस काव्यरस की लहरियों में डूबने के सुख को प्राप्त करें—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञमन्यमना हठेन पठती मास्मिन् खल खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरु श्लथीकृत दृढ ग्रन्थि समासादय
त्वेतत्काव्य रसोर्मिमज्जन सुख व्यासज्जनं सज्जन ॥
नैषधीयचरितम् २२/१५२

यह काव्य ऐसे व्यक्ति के लिए नही है, जो स्वय बैठकर इसका आस्वादन करना चाहता हो। सामान्य अव्युत्पन्न पुरुष इसका आनन्द ले भी नही सकता, इसका आनन्द तो पण्डित ही ले सकते हैं। परमरमणीय भी रमणी कुमारो के अन्त करण को उतना नही हरती, जितना युवको के। यहा भी इसके रस मे अवगाहन के लिए परिपक्व बुद्धि होना आवश्यक है। अपरिपक्व और अरसिक व्यक्ति उनके काव्य का अनादर भी करे तो उन्हे चिन्ता नही, प्रौढ पण्डितो के हृदय को तो यह रञ्जित करना ही है।

यथा यूनस्तद्वत् परमरमणीयाऽपि रमणी
कुमाराणामन्त करणहरण नैव कुरुते।
मदुक्ति श्चेदतर्मदयति सुधीभूय सुधिय
किमस्या नाम स्यादरसपुरुष नादरभरै ॥
नैषध० २२/१५०

श्रीहर्ष के काव्य मे शब्दालङ्कार एवम् अर्थालङ्कार दोनो ही प्रकार के अलङ्कारो का प्रचुर प्रयोग है। पदलालित्य एवम् माधुर्य की दृष्टि से उन्होने अनुप्रास और यमक अलङ्कारो का बहुत प्रयोग किया है। नैषध का पदलालित्य प्रसिद्ध है। अनुप्रास की छटा देखिए—

तदवनीन्द्र चयचन्दन चन्द्र लेपने पथ्यगन्धवह गन्धवह प्रवाहम्।
आलीभिरापतदनङ्ग शरानुसारी मरुव्य सौरभमगाहत भृङ्ग वर्ग ॥
नैषध० ११/५

'वहाँ (स्वयवर म) राजाओ के समूह के चन्दन व कपूर के लेप की सुगन्ध को लेकर बहने वाले वायु का मार्ग रोककर कामदेव के बाणो की तरह पक्तियो मे गिरता हुआ भौरो का समूह सुगध का उपयोग कर रहा था।'

उत्तुङ्ग मङ्गलमृदङ्ग निनादमङ्गीसर्वानुवादविधि बोधित माधुमेधा।
सौधस्रज प्लुपताकतयाभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्डितत्वम्॥
नैषधीयचरितम् ११/६

'कुण्डिनपुरी की प्रासाद पक्तिया वायु के कारण हिलती हुई ध्वजाओ के द्वारा लोगो को अपनी नृत्यकुशलता का परिचय दे रही थी। ध्वजायें इस तरह हिल रही

थी जैसे नीदपत्तियाँ स्वयंवर के समय बजाए गए मङ्गल मृदङ्ग की गम्भीर ध्वनि के अनेक प्रकारों के अनुसार अङ्गादि का सञ्चालन करने की बुद्धि का प्रदर्शन कर रही हो।

संस्कृत साहित्य में दण्डि भी पदलालित्य के लिए प्रसिद्ध हैं किन्तु उनका काव्य नैषध के समान सरस नहीं हो सकता। शब्दों के सुन्दर विन्यास एवम् भावों के समुचित निर्वाह में नैषधीयचरित अद्वितीय है—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिण कथा
तथाद्रियन्ते न बुधास्सुधामपि ।
नल सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल
स राशिरासीन्महस महोज्ज्वल ।। १/१ ।।

जिस पृथ्वी के पालक की कथा का स्वाद लेकर देवता अमृत का भी वैसा आदर नहीं करते हैं जिसने कीर्ति के मण्डप का धवल छत्र बनाया उज्ज्वलों में दीप्यमान वह नल तेजों की राशि था।

यहाँ रूपकालङ्कार की अवतारणा कीर्तिमण्डल का सितच्छत्रित निरूपित करके की गई है।

श्रीहर्ष के काव्य में पदशय्या की स्वाभाविक छटा शब्दों के स्वत गुम्फन में दर्शनीय है—

लताबलालास्य कलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्कर पश्यतोहर ।
असेवतामु मधुगन्धवारिणि, प्रणीतलीला प्लवनो वनानिल ।। १/१०६ ।।

लतारूपी अबलाओं का मधुर नृत्य कला में गुरु वृक्षों के पुष्पों की गन्ध सम्पत्ति का चोर और मकरन्दरूपी गन्धयुक्त जल में जलक्रीडा करने वाला वन पवन राजा नल की सेवा कर रहा था।'

निम्नलिखित पद्य संस्कृत के विद्वानों में पदलालित्य के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध है—

देवी पवित्रित चतुर्भुजवाम भागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम् ।
अस्यारिनिष्कृप कृपाण सनाथपाणे पाणिग्रहादनुगृहाण गण गुणानाम् ।।
नैषधीयचरितम् ११/६६

'विष्णु के वाम भाग को पवित्र करने वाली सरस्वती देवी गरिमा से अभिराम दम (दमयन्ती) से बोली—शत्रुओं में निर्दय तलवार को हाथ में लिये हुए इस (राजा) के विवाह से (अपने या इसके) गुणों के समूह को अनुगृहीत करो।'

यमक अलंकार के द्वारा कामदेव की स्तुति में कैसा पदलालित्य है—

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार, शृङ्गारसान्तरे भृशान्तर शान्तभावान्।
पञ्चेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन, संक्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः॥
नैषध० ११/२५

श्रीहर्ष ने काव्य चमत्कार के लिए श्लेष का अत्यधिक प्रयोग किया है। जहां कहीं भी उन्होंने अपनी कवित्व शक्ति का विलास दिखाना चाहा, वहां श्लेष का प्रधान आश्रय लिया है। श्लेष के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण नैषध के तेरहवें सर्ग के पाँच श्लोकों के वर्णन सम्बन्धी प्रसङ्ग में उपलब्ध होते हैं, जहां सरस्वती द्वारा नल के रूप में उपस्थित चारों देवताओं तथा नल के स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। महाकवि ने इस स्थल पर श्लेष का विन्यास इस चातुर्य के साथ किया है कि प्रत्येक श्लोक का एक अर्थ तो राजा नल के पक्ष में घटता है और दूसरी ओर उस विशिष्ट देवता के पक्ष में जिसका कि वर्णन प्रस्तुत है[1]। चौंतीसवें श्लोक में तो महाकवि की श्लेषसम्बन्धी कला का चरमोत्कर्ष पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ है जहाँ एक ही श्लोक के पाँच अर्थ हैं, जो एक साथ नल व चारों देवताओं के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् रूप से घटते हैं—

देव पतिर्विदुषि! नैषधराजगत्या, निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः पुनस्ते॥
नैषध० १३/३४

उपर्युक्त अलङ्कारों के अतिरिक्त श्रीहर्ष ने उपमा, अतिशयोक्ति, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अलङ्कारों का समुचित प्रयोग किया है। अलङ्कारप्रदर्शन तथा पाण्डित्य प्रकाशन की तरह कवि ने छन्द प्रयोग की कुशलता भी व्यक्त की है। पूरा एक सर्ग हरिणी छन्द में है। माघ में कुल छन्द १६ हैं किन्तु नैषध में कुल छन्द १९ हैं।

---

१ नैषधचरित महाकाव्य (आचार्य सुरेन्द्र देव शास्त्री लिखित भूमिका) पृ० ३७

नैषध का प्रधानरस शृङ्गार है, अन्य रस उसके सहायक हैं। सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों प्रकार के शृङ्गारों की व्यञ्जना कवि ने की है तथापि श्रीहर्ष के शृङ्गार में कालिदास जैसी स्वाभाविकता नहीं है। कहीं-कहीं यह अश्लील भी हो गया है जिसकी विद्वानों ने आलोचना की है।

श्रीहर्ष ने दमयन्ती की लज्जा का एक अत्यन्त मनोरम चित्र खींचा है—

कर स्रजा सज्जतरस्तदीय प्रियोन्मुख सन्विरराम भूय ।
प्रियाननस्यार्द्ध पथ ययौ च प्रत्याययौ नातिचल कटाक्ष ।।

नैषधीयचरितम् १४/२८

प्रिय को पहिनाने के लिए माला से सुसज्जित दमयन्ती का हाथ प्रिय के सामने होकर फिर विरत हो गया। उसी प्रकार उसका अति चचल कटाक्ष प्रिय के मुख के आधे रास्ते तक जाकर ही (लज्जावश) वापस लौट आया।

दमयन्ती की आँखें नल के मुख कमल तक गयीं तो भी तुरन्त लौटीं और लौटते समय प्रिय सखी सरस्वती के मुख का भी देखती आयीं—

कय कयचिन्निषधेश्वरस्य कृत्वास्यपद्म दरवीक्षितश्री
वाग्देवताया वदनेन्दुबिम्ब स्रपावती साकूत सामिदृष्टम् ।।

नैषध० १४/३०

नायक-नायिका के मध्य परिहास का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

वीक्ष्य पत्युरधर कृशोदरी वन्धुजीवमिव भृङ्ग सगतम् ।
मञ्जुल नयन कज्जलैर्निजै सवरीतुमशकत्स्मित न सा ।।

नैषध० १८/१२५

नल के ओठों पर नेत्र चुम्बन के कारण पड़ी हुई कज्जलरेखा को देखकर दमयन्ती की मुसकान रोके न रुकी और नल के पूछने पर वह उनके हाथ में दर्पण दे देती।

नैषध में गम्भीरता पद पद पर दृष्टिगोचर होती है। यह गम्भीरता ऐतिहासिक एवम् पौराणिक सकेतों की बहुलता के कारण और भी अधिक बढ़ जाती है। श्रीहर्ष को इतिहास-पुराण का विस्तृत ज्ञान था। अत्यन्त प्रसिद्ध पौराणिक आख्यानों के अतिरिक्त उन्होंने अत्यन्त अपरिचित कथाओं का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। एक ही कथानक कई रूपों में कई स्थानों पर उल्लिखित हुआ है[1]।

श्रीहर्ष में संस्कृत महाकाव्य की आलकारिक शैली का चूडान्त निदर्शन प्राप्त होता है। उनके बाद इस कोटि का कोई संस्कृत काव्य नहीं लिखा गया, अत वे सदैव स्मरणीय रहेंगे।

---

१ डॉ चण्डिका प्रसाद शुक्ल नैषध परिशीलन पृ २६६

# नैषधीय चरितम्

## तृतीयः सर्ग

आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसा ऽवतीर्य ।
निवेशदेशाततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः ॥१॥

अन्वय —अथ हंस आकुञ्चिताभ्याम पक्षतिभ्याम नभोविभागात् तरसा अवतीर्य निवेशदेशाततधूतपक्ष (सन्) उपभैमि भूमौ पपात ॥

शब्दार्थ —अथ = मण्डलाकार भ्रमण करने के बाद, हंस = हंस आकुञ्चिताभ्याम् पक्षतिभ्याम् = समेटे हुए पंखो से, नभोविभागात् = आकाश से, तरसा = वेगपूर्वक, अवतीय = उतरकर, निवेशदेशाततधूतपक्ष = बैठने की जगह पर पंखो को फैलाये और हिलाए हुए उपभैमि = दमयन्ती के पास, भूमौ = भूमि पर पपात = गिर गया अर्थात् उतर गया ।

अनुवाद —मण्डलाकार भ्रमण करने के बाद हंस पंख समेट कर आकाश से वेगपूर्वक उतर बैठने की जगह पंखो को फैलाकर और हिलाकर दमयन्ती के पास भूमि पर उतर गया ।

जीवातु संस्कृत टीका —आकुञ्चिताभ्यामिति । अथमण्डलीकरणानन्तर हंस । आकुञ्चिताभ्या पक्षमूलाभ्या नभोविभागादाकाशदेशात्तरसा वेगनावतीर्य निवेशदेशे उपनिवेशस्थान आततौ विस्तारितौ धूतौ कम्पितौ च पक्षौ येन स तथा सन्नुपभैमि भैम्या समीप साभीप्येऽव्ययीभाव , नपुंसकत्वं, ह्रस्वत्वं च । भूमौ पपात । स्वभावोक्तिरलङ्कार ॥१॥

समास विग्रहादि —हसनीति हंस । नभसो विभाग नभोविभाग तस्मात् नभोविभागात् निवेशस्य देश निवेशदेश , समन्तात् ततौ आततौ आततौ धूतौ पक्षौ येन स आततधूतपक्ष , निवेशदेशे आततधूतपक्ष इति निवेशदेशाततधूतपक्ष

तस्या समीप उपनेमि।

व्याकरण —अवतीर्य अव + तॄ + क्त्वा (ल्यप्) पपात = पत् लिट् + तिप्।
विशेष —१–इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

२–प्रथम चरण में इन्द्रवज्रा और द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ चरण में उपेन्द्रवज्रा होने से यहाँ उपजाति छन्द है। इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के मिश्रित रूप को उपजाति कहा जाता है।

पूर्वाभास —हंस के पृथ्वी पर अकस्मात् आने से जो शब्द उत्पन्न हुआ, उससे दमयन्ती के मन में घबराहट हुई।

**आकस्मिक पक्षपुटाहताया क्षितेस्तदा य स्वन उच्चचार।**
**द्रागन्यविन्यस्तदृश स तस्या सम्भ्रान्तमन्त करण चकार॥२॥**

अन्वय — तदा पक्षपुटाहताया क्षिते आकस्मिक य स्वन उच्चचार स अन्यविन्यस्तदृश तस्या अन्त करणम् द्राक् सम्भ्रान्तम् चकार।

शब्दार्थ —तदा = हंस के आने के समय पक्षपुटाहताया = पंखों से ताडित हुई, क्षिते = पृथ्वी से आकस्मिक = आकस्मिक, य = जो स्वन = ध्वनि उच्चचार = उत्पन्न हुई स = उसने अन्यविन्यस्तदृश = दूसरी ओर दृष्टि डाली हुई, तस्या = दमयन्ती के अन्त करणम् = मन को, सम्भ्रान्त = घबराहट से युक्त, चकार = कर दिया।

अनुवाद —हंस के आने के समय पंखों से ताडित हुई पृथ्वी से आकस्मिक जो ध्वनि हुई, उसने दूसरी ओर दृष्टि लगाए हुई दमयन्ती के मन को घबराहट से युक्त कर दिया।

भावार्थ —जिस समय हंस पृथ्वी पर आया उस समय दमयन्ती दूसरी ओर दृष्टि लगाए हुई थी। हंस के एकाएक आने से दमयन्ती के मन में घबराहट उत्पन्न हुई।

जीवातु संस्कृत टीका —आकस्मिक इति। तदा पतन समये पक्षपुटाहताया क्षिते अकस्माद्भव आकस्मिक अदृष्टहेतुको निर्हेतुक इत्यर्थ। य स्वना ध्वनिरुच्चचार उत्थित, स स्वन अन्यविन्यस्तदृश विषयान्तरनिविष्टदृष्टेस्तस्या भैम्या अन्त करण द्राक् झटिति सम्भ्रान्त ससम्भ्रम चकार। अकाण्डे सम्भावित शब्दश्रवणाद्भयम् इत्यविशारदत्वादिति। स्वभावोक्ति।

समासविग्रहादि—पक्षयो पुट पक्षपुट तेन आहृता इति पक्षपुटाहृता तस्या इति पक्षपुटाहृतया । अकस्मात् भव आकस्मिक, विन्यस्ते दृशौ यया सा विन्यस्तदृश, अनवस्मिक विन्यस्त दृक् तस्या इति अन्यविन्यस्तदृश ।

व्याकरण—आकस्मिक = अकस्मात् + ठक्, टि लोप । स्वन = स्वन् + अप् (भावे) । उच्चचार = उद + चर् + लिट् + तिप् । मम्भ्रान्तम् = मम् + भ्रम + क्त- + अम् ममार = वृ + लिट + तिप् ।

विशेष —यहाँ स्वाभाविक वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

पूर्वाभास —दमयन्ती की सखियाँ हम को देखने लगी ।

**नेत्राणि वैदर्भसुता सखीना विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि ।**
**प्रापुस्तमेक निरुपाख्यरूपं ब्रह्मे व चेतासि यतव्रतानाम् ॥३॥**

अन्वय —वैदर्भसुतासखीना नेत्राणि विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि एक निरुपाख्यरूप त हम यतव्रतानां चेतासि ब्रह्म इव प्रापु ।

शब्दार्थ —वैदर्भसुता सखीना = दमयन्ती की सखियों के नेत्रों ने, विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि = उन उन विषयों का ग्रहण छोडकर, एक = अकेले, निरुपाख्यरूप = अनिर्वचनीय रूप वाले, त हस = उस हस को, यतव्रताना = योगियो के, चेतासि = चित्त, ब्रह्म इव —जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार प्रापु = पाया ।

अनुवाद —दमयन्ती की सखियों के नेत्रो ने उन उन विषयों का ग्रहण छोडकर अकेले अनिर्वचनीय रूप वाले उस हस को उसी प्रकार पाया, जिस प्रकार योगियों के चित्त ब्रह्म को प्राप्त करते है ।

भावार्थ —वह हस अकेला था । वह इतना अधिक सुन्दर था कि उसके रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता था । जब वह पृथ्वी पर आया तो दमयन्ती की सखियो ने दूसरी वस्तुओं से अपनी दृष्टि हटा ली और उस हस की ओर उसी प्रकार देखने लगी, जिस प्रकार योगी लोग ब्रह्म का अवलोकन करते हैं ।

जीवातु सस्कृत टीका —नेत्राणीति । विदर्भाणा राजा वैदर्भ । तस्य सुताया भैम्या सखीना नेत्राणि विमुक्तास्तत्तद्विषयग्रहा तत्तदर्थग्रहणानि अन्यत्र तत्तद्विषयासङ्गो यैस्तानि सन्ति एकमेकवरम् अद्वितीयञ्च नोपाख्यान इति निरु—

पारमार्थिक रूपमाकार स्व स्वरूप च यस्य त पुरोवर्तिन हस तत्पदार्थं यतव्रताना योगिना चेनासि ब्रह्म परमात्मानमिव प्राप्तु, अन्यादरेणाद्राक्षुरित्यर्थ ।

समासविग्रहादि —विदर्भाणा राजा वैदर्भ वैदर्भस्य सुता वैदर्भसुता तस्या सखीनाम् इति वैदर्भसुतासखीना। ते च त च तत्ते तत्तो च ते विषया तत्तद्विषया, तत्तद्विषयाणा ग्रहा तत्तद्विषयग्रहा विमुक्ता तत्तद्विषयग्रहा यैस्तानि विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि। निर्गता उपाख्या यस्मात्तत निरुपाख्य तत् रूप यस्य तत निरुपाख्यरूपम्। यत व्रत येषा ते यतव्रता तेषाम् इति यतव्रतानाम्।

व्याकरण —वैदर्भ =विदर्भ + अण् सुता सु - क्त + टाप् ग्रह = ग्रह + अच, निरुपाख्य = निर् + उप + आ + ख्या ।

विशेष —यहा सखिया के नेत्रो की तुलना योगियो के चित्त से तथा हस की तुलना ब्रह्म से की जाने के कारण उपमा अलङ्कार है।

पूर्वाभास —दमयन्ती ने हस को पकडने का निश्चय किया।

**हस तनौ सन्निहित चरन्त मुनेर्मनोवृत्तिरिवस्विकायाम् ।**
**ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निःचलता जगाहे ॥४॥**

अन्वय —असौ मुने मनोवृत्ति इव स्विकाया तनौ सन्निहित चरन्त हसम् अदरिणा शयेन (आदरिणा आशयेन वा) ग्रहीतुकामा (सती) यत्नात् निश्चलता जगाहे।

शब्दार्थ —असौ=दमयन्ती, मुने =मुनि की, मनोवृत्ति इव=मनोवृत्ति के समान, स्विकाया=अपने, तनौ सन्निहित=शरीर के निकट, चरन्त=विचरण करते हुए, हसम्=हस को, अदरिणा=निर्भय, शयेन=हाथ से, (मुनि की मनोवृत्ति के पक्ष मे आदरयुक्त मन से), ग्रहीतुकामा=पकडने की इच्छुक, सती=होकर, यत्नात्=यत्न पूर्वक, निश्चलता जगाहे=निश्चल हो गई।

अनुवाद —अपने शरीर के भीतर स्थित परमात्मा (हस) को आदर-पूर्ण मन से ग्रहण करने की इच्छुक प्रयत्न पूर्वक निश्चल बनी योगी की मनो-वृत्ति की तरह वह दमयन्ती अपने शरीर के निकट विचरण करते हुए हस को निर्भय हाथ से पकडने की इच्छुक होकर यत्न पूर्वक निश्चल हो गई।

भावार्थ —जिस प्रकार योगी अपने शरीर के भीतर स्थित परमात्मा को ग्रहण करने का इच्छुक होता है उसी प्रकार दमयन्ती भी उस हंस को पकड़ने में दत्तचित्त हो गई जो उसके शरीर के समीप विचरण कर रहा था।

जीवातु संस्कृत टीका —असौ दमयन्ती मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्वकीयायाः स्वकीयायाः 'प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्येतीकार'। तनौ शरीरान्तिके अन्यत्र तदभ्यन्तरे सन्निहितमासन्नमाविर्भूतं च चरन्तं वसमानं च हंसं मरालं परमात्मानं च, 'हंसो विहङ्गभेदे च परमात्मनि मत्सरे' इति विश्वः। अदरिणा निर्भीकेण शयेन पाणिना दरो स्त्रियां भये श्वभ्रे' पञ्चवराशाव शये पाणिनिस्त्वसरः। अन्यत्र आदरिणा आदरवता आलयेन चित्तेन ग्रहीतुकामा साक्षात्कर्तुकामा च यत्नात् निश्चलतां निश्चलाङ्गत्वं जगाहे जगाम।

समासविग्रहादि —मनसो वृत्तिः मनोवृत्तिः। दरः अस्यास्तीति दरी, न दरी अदरी तेन, ग्रहीतुं कामः यस्याः सा ग्रहीतुकामा निश्चलस्य भावो निश्चलता ताम् निश्चलता,।

व्याकरण —सन्निहितं=सम+नि+धा+क्त+अम् चरन्तं=चर्+लट्+शतृ+अम निश्चलतां=निश्चल+तल्+टाप्+अम्।

विशेष —दमयन्ती की मुनि की मनोवृत्ति तथा हंस की हंस (परमात्मा) से तुलना करने के कारण यहां उपमा अलङ्कार है। मुने मनो में छेकानुप्रास है। अदरिणा, आदरिणा में श्लेषालङ्कार है।

## तामिङ्गितैरप्यनुमायमायामयं न धैर्याद् वियदुत्पपात।
## तत्पाणिमात्मोपरिपातुकं तु मोघं वितेने प्लुतिलाघवेन॥५॥

अन्वय —अयं तां मायाम् इङ्गितैः अनुमाय अपि धैर्यात् वियत् न उत्पपात। आत्मोपरिपातुकं तत्पाणिं तु प्लुतिलाघवेन मोघं वितेने।

शब्दार्थ —अयं=यह हंस तां मायाम्=उस दमयन्ती की माया को, इङ्गितैः=चेष्टाओं से, अनुमाय=अनुमापित कर (जानकर) अपि=भी धैर्यात्=धैर्य के कारण, वियत्=आकाश में, न उत्पपात्=नहीं उड़ा। तु=अपितु, आत्मोपरिपातुकं=अपने ऊपर पड़ने वाले, तत्पाणिं=उसके हाथ को, प्लुतिलाघवेन=उड़ने की निपुणता से मोघं=निष्फल, वितेने=कर दिया।

अनुवाद—यह हंस दमयन्ती की माया की चेष्टाओं से जानकर भी धैर्य के कारण आकाश में नहीं उड़ा, अपितु अपने ऊपर पड़ने वाले उसके हाथ को उड़ने की निपुणता से निष्फल कर दिया।

भावार्थ—हंस यद्यपि दमयन्ती की मायामयी चेष्टाओं को जान रहा था, तथापि वह आकाश में नहीं उड़ा अपितु ज्यों ही दमयन्ती उसे हाथ से पकड़ने लगी, त्यों ही वह कुछ ऊँचाई पर उड़ गया। इस प्रकार उसने दमयन्ती के प्रयास को निष्फल कर दिया।

जीवातु संस्कृत टीका—तामिति। अयं हंसस्तां पूर्वोक्तां मायां कपटमिङ्गितैश्चेष्टितैरनुमाय निश्चित्यापि धैर्यात् स्थैर्यमास्थाय ल्यब्लोपे पञ्चमी। वियदाकाशं प्रति नोत्पपात् नात्पतितवान् आत्मन उपरि पातुकमापतयालु 'लषपते' त्यादिना उकञ् प्रत्ययः। तस्याः पाणि तु प्लुतिलाघवेन उत्प्लवनकौशलेन मोघं वितेने विफलयत्नमकरोत इत्याशयः अनयति न तु पाणौ लगतीत्यर्थः॥

व्याकरण—अनुमाय- अनु+माङ्+क्त्वा (ल्यप्) धैर्यात्= धीर+ष्यञ्, ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च से ल्यप के लोप में पञ्चमी। उत्पपात=उद्+पत्+लिट् तिप्। पातुकम्=पत्+उकञ्, प्लुति=प्लु+क्तिन्। लाघवम्=लघु+अण् वितेन=वि+तनु+लिट्+त।

समासविग्रहादि—आत्मनः उपरि पातुक तम् इति आत्मोपरिपातुकं, तस्याः पाणि तत्पाणि तम् इति तत्पाणिं, प्लुतेलाघवं प्लुतिलाघवं तं प्लुतिलाघव तेन प्लुतिलाघवेन।

विशेष—हंस का स्वाभाविक वर्णन करने से यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

माय, माया, मन में शब्द साम्य होने के कारण अनुप्रास अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती द्वारा हंस न पकड़ा जाने के कारण उसकी सखियों ने हँसी की।

**व्यर्थीकृतं पत्ररथेन तेन तथाऽवसाय व्यवसायमस्याः।**
**परस्परामर्पितहस्ततालं तत्कालमालीभिरहस्यतालम्॥६॥**

अन्वय—अस्याः व्यवसायम् तेन पत्ररथेन तथा व्यर्थीकृतं अवसाय तत्कालम् परस्परम् अर्पितहस्ततालम् आलीभिः अलम् अहस्यत।

शब्दार्थ —अस्या =दमयन्ती के, व्यवसायम्=प्रयत्न को, तेन पत्र-रथेन=उस (हंस) पक्षी द्वारा तथा=उस प्रकार, व्यर्थीकृतम्=व्यर्थ किया हुआ, अवसाय=जानकर, तत्कालम्=उस समय, परस्परम्=आपस में, अर्पितहस्ततालम्=ताली बजाकर, आलीभिः=सखियों के द्वारा, अलम्=अत्यधिक, अहस्यत्=हंसी की गई।

अनुवाद —दमयन्ती के प्रयत्न को हंस पक्षी द्वारा उस प्रकार व्यर्थ किया हुआ जानकर सखियों ने परस्पर ताली बजाकर अत्यधिक हंसी की।

भावार्थ —जब सखियों ने देखा कि दमयन्ती के प्रयत्न को हंस ने उड़कर विफल कर दिया है तो उन्होंने आपस में ताली बजाकर दमयन्ती की खूब हंसी की।

जीवातु संस्कृत व्याख्या —व्यर्थीकृतमिति। अस्याः भैम्या व्यवसायं हंसग्रहणोद्योगं तेन पतत्रिणा पक्षिणा व्यर्थीकृतं तथा अवसाय ज्ञात्वा तत्कालं तस्मिन् काले अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। स एव कालो यस्येति बहुव्रीहौ क्रियाविशेषणं वा। परस्परं परस्परस्यामित्यर्थः। कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्विर्भावः समासवच्च बहुलमिति बहुलग्रहणादसमासवद्भावे पूर्वपदस्य प्रथमैकवचने वक्तव्यादित्वाद्विसर्जनीयस्य सत्वमुत्तरपदस्य यथा योगं द्वितीयाद्येकवचनं 'स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थायाविभक्तेराम्भावो वक्तव्यः' इति विकल्पादामादेशः। अर्पितहस्ततालं दत्तहस्ततालनं यथा तथा आलीभिः सखिभिरलम् अत्यर्थम् अहस्यत हसितम्। भावे लङ्।

समासविग्रहादि —पतत्रम् एव रथः यस्य सः पतत्ररथः तेन पतत्ररथेन। विगतः अर्थः यस्मात् स व्यर्थः, अव्यर्थो व्यर्थो यथा सम्पद्यते तथा कृतं व्यर्थीकृतं तम् व्यर्थीकृतम्। हस्ताभ्यां तालः हस्ततालः, अर्पितो हस्ततालो यस्मिन् तद् यथा तथा अर्पितहस्ततालम्।

व्याकरण —व्यर्थीकृतम्=व्यर्थ+च्वि, दीर्घ+कृ+क्त (कर्मणि)+अम्, अवसाय=अव+सो+ल्यप्, अहस्यत=हस+लङ्+त।

विशेष —यहाँ 'वसाय' 'वसाय' तथा 'तालं' 'ताल' में यमक अलङ्कार है।

पूर्वाभास —अपनी हंसी उड़ाने देखकर दमयन्ती ने सखियों को उलाहना दिया।

**उच्चाटनीयः करतालिकानां दानादिदानीं भवतीभिरेष।**
**याऽन्वेति मां द्रुह्यति मह्यमेव साऽत्रेत्युपालम्भितयाऽऽलिवर्गः ॥७॥**

अन्वय —(हे सख्य) इदानीम् भवतीभिः एष करतालिकानाम् दानात् उच्चाटनीय ? अत्र या माम् अन्वेति, सा मह्यम् एव द्रुह्यति, इति तया आलिवर्गं उपालम्भि।

शब्दार्थ —(हे सख्य =हे सखियो), इदानीम्=इस समय, भवतीभिः=आप लोगो के द्वारा, एष=यह हंस, करतालिकानाम् दानात्=तालियाँ बजाकर, उच्चाटनीय =भगाया जाना चाहिए था क्या ? अत्र आप लोगो म से, या=जो, माम्=मुझे अन्वेति=अनुसरण करेगी, सा=वह, मह्यम्=मुझसे, एव=ही, द्रुह्यति=द्रोह करेगी, इति=इस प्रकार, तया=उसने, आलिवर्ग =सखियो के समूह को, उपालम्भि=उलाहना दिया।

अनुवाद —हे सखियो ! इस समय आप लोगो के द्वारा यह हंस क्या तालियाँ बजाकर भगाया जाना चाहिए था ? आप लोगो मे से जो मेरा अनुसरण करेगी, वह मुझसे ही द्रोह करेगी, इस प्रकार उसने सखियो के समूह को उलाहना दिया।

भावार्थ —दमयन्ती न सखियों से कहा कि आप लोगो को तालियाँ बजाकर हंस को भगाना नहीं चाहिए था। अब जो भी सखी मेरे पीछे आयेगी वह मेरे साथ द्रोह करेगी, इस प्रकार दमयन्ती ने सखियों को उलाहना दिया।

जीवातु संस्कृत टीका —उच्चाटनीय इति। हे सख्य भवतीभिरेष हंस करतालिकाना दानादन्योन्यहस्तताडनकरणादुच्चाटनीय निवारणीय किमिति काकु, नोच्चाटनीय एवेत्यर्थ । अत्र आसु मध्ये या माम् अन्वेति सा मह्यमेव द्रुह्यति मा जिघासतीत्यर्थ । 'क्रुधद्रुह'इत्यादिना सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी। इतीत्थं तया भैम्या आलिवर्ग सखीसघ उपालम्भि अशापि, शापनैव निवारित इत्यर्थ ।

समासविग्रहादि —करयोस्तालिका तासाम् करतालिकानाम्।

व्याकरण —उच्चाटनीय = उद् + चट् + णिच् + अनीयर् + सु, अन्वेति=अनु + इण् + लट् + तिप्, द्रुह्यति=द्रुह् + लट् + तिप्, उपालम्भि= उप + आङ् + लभ + लुङ्।

विशेष —'दाना' 'दानी' मे छेकानुप्रास अलङ्कार है।

पूर्वाभास —दमयन्ती हंस के पीछे उसी प्रकार लग गई, जिस प्रकार श्यामा छाया सूर्य के सामने जाने वाले पुरुष के पीछे लगती है।

**धृताल्पकोपा हसिते सखीनां छायेव भास्वन्तमभिप्रयातुः।**
**श्यामाऽथ हंसस्य कराऽनवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात्॥८॥**

अन्वय—अथ सखीना हसिते घृनाल्पकोपा भास्वन्तम् अभिप्रयातु छाया इव श्यामा करानवाप्ते मन्दाक्षलक्ष्या (सती) हसस्य पश्चात् लगति स्म।

शब्दार्थ— अथ=अनन्तर, सखीना=सखियों के, हसिते=हसने पर घृनाल्पकोपा=कुछ कोप करने वाली, भास्वन्तम्=सूर्य के, अभिप्रयातु=सम्मुख जाने वाले की, छाया इव=छाया के समान, श्यामा=यौवनवती दमयन्ती, करानवाप्ते=हाथ से (हस को) न पाने से (पक्ष मे–किरणो को न प्राप्त करने से) मन्दाक्षलक्ष्या सती=लज्जायुक्त होती हुई (मन्द दृष्टि वालो को दिखाई पडती हुई) हसस्य=हस पक्षी के (अथवा सूर्य के) पश्चात्=पीछे, लगति स्म=लग जाती है।

अनुवाद— अनन्तर सखियो के हसने पर कुछ कोप करने वाली तथा हस को हाथ से न पाने के कारण लज्जायुक्त होती हुई यौवनवती दमयन्ती सूर्य के सम्मुख चलने वाले पुरुष की छाया जैसे उसके पीछे लग जाती है, उसी प्रकार हस के पीछे लग गई।

भावार्थ— मन्ददृष्टि वाले व्यक्ति को भास्वर सूर्य तो दिखाई नही पडता, किन्तु छाया उसके दृष्टिगोचर होती है। जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख चलने वाले पुरुष की छाया उसके पीछे लग जाती है, उसी प्रकार दमयन्ती भी हस के पीछे लग गई।

जीवातु सस्कृत टीका— घृनेति। अथ सखीनिवारणानन्तर सखीना हसिते हासनिमित्ते घृनाल्पकोपा तासु ईषत्कोपा इत्यर्थ । भास्वन्तमभिप्रयातु सूर्याभिमुख गच्छत छाया अनातपरेखेव श्यामा यौवनमध्या 'श्यामा यौवनमध्यस्था' इत्युत्पलमालायाम् । अन्यत्र श्यामा नीला, हसस्य कर्मणि षष्ठी । करेण हस्तेन अनवाप्तेरग्रहणाद्धेतोर्मन्दाक्ष ह्रीस्तेन लक्ष्या उपलक्ष्या ह्रीणा सतीत्यर्थ । अन्यत्र हसस्य सूर्यस्य करानवाप्ते अंशुसम्पर्काभावात् मन्दाक्षैरपटुदृष्टिभिर्लक्ष्या ग्राह्या तैं छाया लक्ष्यते न प्रकाश इति भाव । पश्चाल्लगति स्म पृष्ठे लग्नाऽभूत् प्राप्त्याशया तमन्वगात्। 'रविश्वेतच्छदौ हसौ,' 'बलिहस्तांशव करा' इति चामर ॥

समासविग्रहादि— घृन अल्प कोपो यस्या सा घृनाल्पकोपा, न अवाप्ति अनवाप्ति, करेण अनवाप्ति तस्या अथवा कराणाम् अनवाप्ति तस्या करानवाप्ते । मन्दे अक्षिणी (नेत्रे) येषा ते मन्दाक्षा, मन्दाक्षै लक्ष्या इति मन्दालक्ष्या ।

व्याकरण —हसिते=हस+क्त+ङि, भास्वन्त=भास्+मतुप्+अम् अभिप्रयातु =अभि+प्र+या+तृच+डस ।

विशेष— यहाँ दमयन्ती की छाया से तुलना भी गई है, अत उपमा अलङ्कार है। कर, हस आदि शब्दों के कारण श्लेष अलङ्कार है।

पूर्वाभास —दमयन्ती हस के सम्मुख यात्रा को शुभ शकुन बतलाती है।

**शस्ता न हसाभिमुखी तवेयं यात्रेतिताभिश्छलहास्यमाना ।**
**साह स्म नैवाशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हस ॥६॥**

अन्वय— "तव इय हसाभिमुखी यात्रा शस्ता न" इति ताभि छल-हस्यमाना (सती) सा भाविप्रियावेदक एष हसो मे न अशकुनीभवेत् एव इति आह स्म ।

भावार्थ— तव=तुम्हारी, इय=यह हसाभिमुखी=हस के सम्मुख (अथवा सूर्य के सम्मुख) यात्रा—गमन, शस्ता न—प्रशसनीय नही है, इति=इस प्रकार, ताभि=सखियो के द्वारा, छलहस्यमाना=छल से उपहास की जाती हुई, सा=दमयन्ती ने, भाविप्रियावेदक=आगामी प्रिय का सूचक, एष हस=यह हस, मे=मेरे लिए न अशकुनीभवेत्=अपशकुन (अथवा अपक्षी) नही होगा, इति आह स्म=ऐसा कहा ।

अनुवाद— तुम्हारी यह हस के सम्मुख यात्रा प्रशसनीय है, इस प्रकार सखियो के द्वारा छल से उपहास की जाती हुई दमयन्ती ने आगामी प्रिय का सूचक यह हस मेरे लिए अपशकुन नही होगा, ऐसा कहा।

भावार्थ— यहाँ हस शब्द का अर्थ हस पक्षी और सूर्य दोनो है। सखियो के कहने का तात्पर्य यह है कि हस अर्थात् सूर्य के सम्मुख यात्रा करना प्रशसनीय नही है। इस पर दमयन्ती उत्तर देती है कि आगामी प्रिय का सूचक यह हस (हस पक्षी) मेरे लिए अशकुन=अर्थात् अपक्षी नही है, अपितु शकुन (शुभ चिह्न) है।

जीवातु सस्कृत टीका— शस्तेति । तवेय हसस्य श्वेतच्छदस्य चाभिमुखी यात्रा गमन न शस्ता न प्रशस्ता श्रेयस्करी न शास्त्रविरोधात् श्रम-सन्तापदृष्टदोषाच्चेति भाव । इतीत्य ताभि छलेन व्याजोक्त्या हस्यमाना सती भाविप्रियावेदको मङ्गलमूर्तित्वादा गामि शुभसूचक एष हसो मे मम नाशकुनी-भवेदव, किन्तु शकुनमेव भवेदित्यर्थ । अपक्षी न भवेदिति च गम्यते 'शकुनन्तु शुभाशसनिमित्ते शकुन शुभानिति विश्व । 'अभूततद्भावे च्वि' विप्याग्निर्त्वेन प्रार्थने लिङ् इत्याह स्म अवोचत्, ब्रुव पञ्चानामित्यादादेश । एतेन तदीय-यात्रानिषेधान्तदोष परिहृता वेदितव्य ।

समासविग्रहादि—हम्सस्य अभिमुखी इति हंसाऽभिमुखी। छलेन हस्य-माना छलहस्यमाना। भावि न तत्प्रियम् तस्य आवेदक इति।

व्याकरण—हस्यमाना = हस + लट् + यक् + शानच् + टाप्। अशकुनीभवेत् = अशकुन + च्वि + भू + लिङ्।

विशेष—इस पद्य मे श्लेष, वक्रोक्ति तथा अपह्नुति अलङ्कार है। जहाँ प्रकृत का निषेध कर अन्य की स्थापना की जाती है, वहाँ अपह्नुति अलङ्कार होता है। यहाँ सखियो ने हस का निषेध कर सूर्य की स्थापना की अत अपह्नुति अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हस भी मानो दमयन्ती का उपहास कर रहा था।

**हंसोऽप्यसौ हंसगतेस्सुदत्या पुर पुरश्चारु चलन् बभासे।**
**वैलक्ष्य हेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चै ॥१०॥**

अन्वय—असौ हस अपि हसगते सुदत्या पुर पुर चलन् वैलक्ष्यहेतो एतदीयाम् गतिम् अग्रे अनुकृत्य उच्चै उपहसन् इव बभासे।

शब्दार्थ—असौ = वह, हस अपि = हस भी, हसगते = हस के समान गति वाली, सुदत्या = सुन्दर दाँतो वाली दमयन्ती के, पुर पुर = आगे आगे, चलन् = चलता हुआ, वैलक्ष्य हेतो = (उसे) लज्जित करने हेतु एतदीयाम् = इसकी (दमयन्ती की), गतिम् = गति का, अनुकृत्य = अनुगमन कर, उच्चै उपहसन् इव = मानो अत्यधिक उपहास करता हुआ सा, बभासे = सुशोभित हुआ।

अनुवाद—वह हस भी हस के समान गति वाली सुन्दर दाँतो वाली दमयन्ती के आगे आगे चलता हुआ उसे लज्जित करने हेतु उसकी गति का अनुगमन कर मानो अत्यधिक उपहास करता हुआ सा सुशोभित हुआ।

भावार्थ—दमयन्ती की चाल हस के समान सुन्दर थी। उसी की चाल का अनुसरण करता हुआ हस मानो उसकी हँसी उडा रहा था।

जीवातु सस्कृत टीका—एव दमयन्ती व्यापार मुक्त्वा सम्प्रति हसस्य व्यापारमाह–हसोऽपीति। असौ हंसोऽपि हसस्य गतिरिव गतिर्यस्या-स्तस्या सुदत्या शोभनदन्ताया भैम्या, सुदती व्याख्याता। पुर पुर वीप्साया द्विर्भाव। अग्रे समन्तात्, चारु चलन् रम्य गच्छन् सन् वैलक्ष्यमेव हेतुस्तस्य वैलक्ष्य हेतो, अहो मामयमपि विडम्बयतीति तस्या अपि विस्मयजननार्थमित्यर्थ।

विलक्षो विस्मयान्वित इत्यमरः। 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी। एतद्दीयाङ्ग तिमनुकृत्य अभिनीय उच्चैरपहसनिवेत्युत्प्रेक्षा बभासे बभौ लोके परिहासाय तच्चेष्टाद्यनुकरणेन परान् विलक्षयन्ति।

समासविग्रहादि—हंसस्य इव गतिर्यस्याः सा हंसगतिः तस्याः हंसगतेः। शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती तस्याः वैलक्ष्यस्य हेतुः तस्य वैलक्ष्यहेतोः तस्याः इयम् एतदीया ताम् एतदीयाम्।

व्याकरण—चलन् = चल + शतृ (शानृ) एतदीयाम् = एतत् + छ + टाप। बभासे = भास + लिट् - त।

विशेष—इस पद्य में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। उपमेय के साथ उपमान की सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं।

दमयन्ती की गति की हंस की गति से उपमा दी गई है अतः उपमा अलङ्कार है।

उपमा तथा उत्प्रेक्षा की यहाँ संसृष्टि है।

पूर्वाभास—हंस से आकृष्ट हुई दमयन्ती लताओं के पास पहुंच गई।

**पदे पदे भाविनि भाविनी तं यथा करप्राप्यमवैति नूनम्।**
**तथा सखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेनाऽऽचकृषे कृशाङ्गी ॥११॥**

अन्वय—भाविनी कृशाङ्गी भाविनि पदे पदे तं यथा करप्राप्यं नूनं अवैति तथा सखेलं चलता तेन प्रतार्य लतासु आचकृषे।

शब्दार्थ—भाविनी = हंस को पकड़ने की ही मन में भावना भाती हुई, कृशाङ्गी = दुर्बल अङ्गों वाली दमयन्ती, भाविनि = भावी, पदे पदे = पद पद पर, तं = उस हंस को, यथा = जैसे, करप्राप्यं = हाथ से पकड़े जाने वाला, नूनं अवैति = निश्चित रूप से जानती है, तथा = वैसे ही सखेलं—क्रीडापूर्वक, चलता = चलते हुए, तेन = वह हंस, प्रतार्य = बहकाना कर, लतासु—लताओं में (उस दमयन्ती को), आचकृषे = खींच ले गया,

अनुवाद—हंस को पकड़ने की ही मन में भावना भाती हुई दुर्बल अङ्गों वाली दमयन्ती भावी पद पद पर उस हंस को जैसे हाथ से पकड़े जाने वाला निश्चित रूप से जानती है, वैसे ही क्रीडापूर्वक चलता हुआ वह हंस बहकाना कर उस दमयन्ती को लताओं में खींच ले गया।

भावार्थ—दमयन्ती हंस को पकड़ना चाहती थी अतः पद पद पर उसे

यह आशा रही कि अब हम निश्चित रूप से मेरे हाथ मे आ जायेगा। इस प्रकार क्रीडा पूर्वक चलता हुआ हंस कुछ दूर लताओ मे दमयन्ती को खीच ले गया।

जीवातु संस्कृत टीका—पदे पदे इति। भावयन्तीति भाविनि हंस-ग्रहणमेव मनसा भावयन्ती कृशाङ्गी भैमी भाविनि भविष्यत्यनन्तर इत्यर्थः। 'भविष्यति गम्यादय' इति साधु। पदे पदे न हंस यथा करप्राप्य करग्राह्य नून निश्चितमवैति प्रत्येति तथा सखेल चलता गच्छता तेन हंसेन प्रतार्य वञ्चयित्वा लतासु आचकृषे आकृष्टा, एकान्त नीतेत्यर्थ ॥

समासविग्रहादि—कृशानि अङ्गानि यस्या सा कृशाङ्गी। भविष्यतीति भावि तस्मिन् भाविनि, करेण प्राप्य करप्राप्य न करप्राप्य, खेलया सहित यथा तथा सखेल।

व्याकरण—भाविनी=भू+णिच्+णिनि+ङीप्। अवैति=अव+इण्+लट्+तिप्। चल+लट्+(शतृ)+टा। आचकृषे=आङ्+कृष+लिट्+त।

विशेष—इस पद्य मे भावि भावि तथा लता लता मे यमक एवम् भाविनि भाविनी एवम् कृषे कृशा मे अनुप्रास अलङ्कार है। इन दोनो अलङ्कारो के कारण यहाँ संसृष्टि अलङ्कार भी है।

पूर्वाभास—दमयन्ती को थका हुआ तथा अकेला जान हंस उसस बोला।

**रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार।**
**तदा श्रमाम्भः कणभूषिताङ्गी स कीरवन्मानुषवागवादीत्॥१२॥**

भावार्थ—यदा स रुषा निषिद्धालिजना एनाम् छायाद्वितीया (तथा) श्रमाम्भः कणभूषिताङ्गी कलयाञ्चकार, तदा कीरवत् मानुष-वाक्-सन् अवादीत्।

शब्दार्थ—यदा=जब, सः=हंस ने, रुषा=क्रोध से, निषिद्धालिजना=सखियो के रोके हुए, एनाम् इसे, छायाद्वितीया=छाया मात्र साथ लिए (तथा) श्रमाम्भः कणभूषिताङ्गी=श्रम के जलकणो से भूषित अङ्ग वाली कलयाञ्चकार=जाना, तदा=तब, कीरवत्=तोते के समान, मानुषवाक् सन्=मनुष्यवाणी मे, अवादीत्=बोला।

अनुवाद—जब हंस ने क्रोध से सखियो को रोके हुए इसे छायामात्र साथ लिए तथा श्रम के जलकणो से भूषित अङ्ग वाली जाना तब तोते के समान मनुष्य वाणी मे बोला।

भावार्थ—दमयन्ती ने क्रोध के कारण सखियों को आने से रोक दिया था, अत वह अकेली ही विद्यमान थी। गमन से उत्पन्न थकान के कारण उसके शरीर पर पसीने की बूँदें छलक रही थी। तब उसे ऐसा जान तोते के समान मनुष्य वाणी में हंस बोला।

जीवातु संस्कृत टीका—रुषेति। रुषा निषिद्धालिजना निवारित-सखीजना यदा छाया एव द्वितीया यस्यास्तामेकाकिनी कलयाञ्चकार विवेद, तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गी स्वेदाम्बुलवपरिष्कृत शरीरा खिन्नगात्रान्ता स हंस कीरवत् शुकवन्मनुष्यस्येव वाग्यस्य स मन्नवादीत्।

समासविग्रहादि—निषिद्धा आलिजना यया सा ताम् निषिद्धालिजना, छाया एव द्वितीया यस्या सा अथवा छायया हेतुना अद्वितीया ताम् छायाद्वितीया, श्रमेण अम्भःकणा भूषितानि अङ्गानियस्या सा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गी मानुषस्य वाक् इव वाक् यस्य स मानुषवाक्।

व्याकरण—कीरवत्=कीर+वति, रुषा=रुष्+क्विप् कलया-ञ्चकार=कल्+णिच्+आम्+कृ+लिट्, वाक्=वच+क्विप्। दीर्घ और सम्प्रसारणाभाव। अवादीत्=वद+लुङ्+तिप्।

विशेष—यहां कीरवत् और मानुषवाक् में दो उपमाओं की संसृष्टि है।

पूर्वाभास—हंस दमयन्ती को दूर आने से रोकता है—

**अये! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं ? परिश्राम्यसि वा किमर्थम्।**
**उदेति ते भीरपि किन्नु बाले! विलोकयन्त्या न घना वनाली १३॥**

अन्वय—अये बाले! व्यर्थ कियत् दूर यावत् उपैषि ? वा किमर्थं परिश्राम्यसि ? घना वनाली विलोकयन्त्या ते भी अपि न उदेति किन्तु।

शब्दार्थ—अये बाले! हे बाले, व्यर्थं=व्यर्थ, कियत् दूर यावत्= कितनी दूर तक, उपैषि=आ रही हो ? वा=अथवा, किमर्थं=क्यों परि-श्राम्यसि ?=थकी जा रही हो ? घना=घनी, वनाली=वन की पंक्तियों को विलोकयन्त्या=देखने वाली, ते=तुम्हे, भी अपि=भय भी, न उदेति=नहीं उदित होता है, किन्तु=क्या ?

अनुवाद—हे बाले! व्यर्थ कितनी दूर तक आ रही हो अथवा क्यों थकी जा रही हो ? घनी वन की पंक्तियों को देखने वाली तुम्हे भय भी नहीं उदित होता है, क्या ?

भावार्थ—हंस दमयन्ती को समझाता है कि मेरे साथ व्यर्थ में कितनी दूर तक आओगी, तुम्हें थकान भी उत्पन्न हो रही है अतः अब अधिक गमन करना ठीक नहीं है। यह सघन वन है। इसमें क्या तुम्हें भय उत्पन्न नहीं होता है, क्या ? अर्थात् निश्चित रूप से इस सघन वन में भय उत्पन्न होना होगा।

जीवातु संस्कृत टीका—अय इति। अये बाले ! व्यर्थं कियद्दूरं यास्यसीति उपैष्यसि ? 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्'। किमर्थं परिश्राम्यसि वा ? घना सान्द्रा वनालीर्वनपङ्क्तीर्विलोकयन्त्यास्ते भीरपि नोदेति किन्तु ?

समासविग्रहादि—वनानाम् आली ता वनाली।

व्याकरण—उपैषि=उप+एषि, एत्येधत्यूठ्सु से वृद्धि। विलोकयन्त्या=वि+लोक्+णिच्+लट्+शतृ+ङीप्+टा॥

विशेष—बाले किलो तथा घना वना में अनुप्रास अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हंस के कथनानुसार वनपंक्ति भी दमयन्ती को रोक रही है।

**वृथार्पयन्तीमपथे पदं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः।**
**आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं कपोतहुङ्कारगिरा वनाली॥१४॥**

अन्वय—वृथा अपथे पदम् अर्पयन्तीम् त्वाम् मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः (तथा) कपोतहुङ्कारगिरा इयम् वनाली आली इव प्रतिषेधति (इति त्वम्) पश्य।

शब्दार्थ—वृथा=व्यर्थ ही, अपथे=बुरे मार्ग में पदम्=पैर, अर्पयन्तीम्=रखती हुई, त्वाम्=तुम्हें, मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः=वायु द्वारा हिलाए जाते हुए पल्लव रूपी हाथों के सचालन से, कपोतहुङ्कारगिरा=कबूतरों की हुङ्कार रूप वाणी से, इयं वनाली=यह वनपंक्ति, आली इव=सखी के समान, प्रतिषेधति=रोक रही है, पश्य=देखो।

अनुवाद—व्यर्थ ही बुरे मार्ग में पैर रखती हुई तुम्हें वायु द्वारा हिलाए जाते हुए पल्लव रूपी हाथों के सचालन से कबूतरों की हुङ्कार रूप वाणी से यह वनपंक्ति सखी के समान रोक रही है।

भावार्थ—हंस दमयन्ती को समझाता है तुम व्यर्थ ही बुरे मार्ग में पैर रख रही हो। वायु द्वारा वृक्षों के पल्लव रूपी हाथ चल रहे तथा कबूतर भी हुङ्कार कर रहे हैं, इससे ऐसा प्रतीत होता है, मानो यह वनपंक्ति सखी के समान हितैषिणी होकर तुम्हें आगे बढ़ने से रोक रही है।

जीवातु संस्कृत टीका—वृथेति। वृथा व्ययमव न पन्था अपथम्, 'ऋक्पूरित्यादिना समासान्त अ, 'अपथं नपुंसकम्' तस्मिन्नपथे दुर्मार्गे अकृत्ये च पद पाद व्यवसाय च अर्पयन्ती' पद व्यवसित त्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुष्वित्यमरः। मम्ना ललन् चलन् पल्लव एव पाणिस्तस्य वर्म्मे कपोतहुङ्कारगिरा च वनाली आलीव सखीव प्रतिषेधति निवारयति, पश्य इति वाक्यशेष वर्म। यथा लोके। अमार्गवृत्त सुहृज्जन पाणिना वाचा च वारयति तद्वदित्यर्थ । अतएव पल्लवपाणीत्यादौ रूपकाश्रयणम् तत्सङ्कीर्णा वनाल्यालीवेत्युपमा।

समासविग्रहादि—अपथे=न पन्था अपथम् तस्मिन्, पल्लव एव पाणि इति पल्लवपाणि, ललश्चासौ पल्लवपाणि ललत्पल्लवपाणि मरुता ललत्पल्लवपाणि तस्य कम्पा तैं मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैं कपोतानां हुङ्कारगी तया कपोतहुङ्कारगिरा, वनानाम् आलि वनालि ।

व्याकरण—प्रतिषेधति=प्रति+षिध्+लट्+तिप् ।

विशेष—इस पद्य मे पल्लवपाणि मे रूपक तथा आलीव मे उपमा है। इस प्रकार उपमा तथा रूपक का सङ्कर है ।

पूर्वाभास—हंस दमयन्ती से कहता है कि मैं आकाशविहारी हूँ। अत तुम मुझे पकड नही सकती हो ।

**धार्य कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ।**
**अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन ॥१५॥**

अन्वय—वसुधैकगत्या भवत्या वियद्विहारी अहम् कथङ्कारम् धार्य । अहो ! स्मरस्य सख्या अनेन वयसा अपि तव शिशुत्व न खण्डितम् ।

शब्दार्थ—वसुधैकगत्या=केवल पृथ्वी पर ही चलने वाली, भवत्या=आपके द्वारा, वियद्विहारी=आकाशगामी, अहम्=मैं, कथङ्कारम्=कैसे, धार्य=पकडा जा सकता हूँ ? अहो ! आश्चर्य है, स्मरस्य=कामदेव के, सख्या=मित्र, अनेन=इस, वयसा=युवावस्था ने, अपि=भी, तव=तुम्हारा, शिशुत्वम्=बालपना, न खण्डितम्=खण्डित नही किया ।

अनुवाद—केवल पृथ्वी पर ही चलने वाली आपके द्वारा आकाशगामी मैं कैसे पकडा जा सकता हूँ। आश्चर्य है कि कामदेव की मित्र इस युवावस्था ने भी तुम्हारा बालपना खण्डित नही किया ।

भावार्थ—यदि दमयन्ती और हंस दोनों पृथ्वी पर ही चलने वाले होते तो दमयन्ती हंस को पकड सकती थी, किन्तु इन दोनों मे हंस आकाश मे

तुम्हारे द्वारा आकाशगामी मेरा पीछा किया जाना तुम्हारा बालचेष्टा है। हे। हम को आश्चर्य है कि युवावस्था आने पर भी दमयन्ती की बालसुलभ चपलता नष्ट नहीं हुई।

जीवातु संस्कृत टीका—धार्य इति। एकैव गतिर्यस्यास्तया एक-गत्या वसुधायामेकगत्या भूमात्रचारिण्येत्यर्थः। शिवभागवतवत्समासः। भवत्या वियद्विहारी खेचरोऽहं कथङ्कारं कथमित्यर्थः। 'अन्यथैवं कथमित्थम् सिद्धा-प्रयोगश्चेदिति' कथंशब्दोपपदात्करोतेर्णमुल्। धार्यो धर्तुं ग्रहीतुं शक्य इत्यर्थः 'शकि लिङ् चे'ति चकाराच्छक्यार्थे कृत्यप्रत्ययः अनेन स्मरस्य सख्या सखिना तदु-द्दीपकेन वयसा यौवनेन सखिशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः। न खण्डितं न निर्वर्त्तितम् अहो विरुद्धं वयमारेऽत्र समावेशादाश्चर्यमित्यर्थः अत्राधार्यत्वस्य वसुधागति वियद्विहारपदार्थहेतुकत्वादेकं काव्यलिङ्गभेदस्तथा शैशवाखण्डनस्य पूर्व वाक्यार्थहेतुकत्वादपरं इति सजातीयसङ्करः ॥१५॥

समासविग्रहादि—एकागतिर्यस्या सा एकगति, वसुधायाम् एकगति तया इति वासुधैकगत्या, विहरतीति तच्छीला विहारी, वियति विहारी विय-द्विहारी, धर्तुं शक्य धार्य।

व्याकरण—विहारी=वि+हृ+णिनि। कथङ्कारम्=कथम्+कृ+णमुल्।

विशेष—हम को दमयन्ती क्यों नहीं पकड सकती है, इसका कारण उसकी वसुधैकगति को बतलाया गया है, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। युवा-वस्था आने पर भी शिशुत्व का खण्डन न होने के कारण विशेषोक्ति अलङ्कार है। विशेषोक्ति की परिभाषा है—'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्ति' अर्थात् हेतु के होने पर भी फल का जहाँ अभाव होता है, वहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार होता है।

काव्यलिङ्ग अलङ्कार वहा होता है जहाँ वाक्यार्थ अथवा पदार्थ का कथन हेतुरूप से किया जाय। साहित्यदर्पण में कहा गया है—

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्।

पूर्वाभास—हंस दमयन्ती से कहता है कि हमारे अच्छे वचन मनुष्यों के लिए दुर्लभ हैं—

**सहस्रपत्रासनपत्रहंसवंशस्य पत्राणि पतत्रिण. स्मः।**
**अस्मादृशां चाटुरसाऽमृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ॥१६॥**

अन्वय—पद्य के अनुसार।

शब्दार्थ—सहस्रपत्रासनपत्रहंसवंशस्य=(हम) ब्रह्मा के वाहन हंस

के कुल के, पत्रागि=वाहन, पतत्रिण=पक्षी, स्म=हैं, अस्मादृशा=हम जैसों के, चाटुरसाऽमृतानि=मधुर वचनों में स्थित (श्रृङ्गारादि) रस रूप अमृत, स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि=स्वर्गलोक के लोगों से भिन्न लोगों को दुर्लभ है।

अनुवाद—हम ब्रह्मा के वाहन हंसों के कुल के पक्षी हैं। हम जैसों के मधुर वचनों में स्थित रस रूप अमृत स्वर्गलोक के लोगों से भिन्न लोगों को दुर्लभ है।

भावार्थ—हंस कहता है कि मैं सामान्य हंस पक्षी नहीं है, अपितु मेरा जन्म ब्रह्मा के वाहन हंस के कुल में हुआ है। हम जैसे लोगों की वाणी मनुष्यों को सुलभ नहीं है, देवताओं को भले ही सुलभ हो जाय।

जीवातु संस्कृत टीका—अथ प्रस्तुतोपयोगितया निजान्वयं निवेदयति सहस्रेति। सहस्रपत्रासनस्य कमलासनस्य पत्त्रहंसा वाहनहंसा तेषां वंशस्य कुलस्य वेणोश्च पत्त्राणि वाहनानि पर्णानि च 'वंशो वेणौ कुले वर्गे', 'पत्रं स्याद्वाहने पर्णे' इति च विश्वः। पतत्रिणः स्म ब्रह्मवाहनहंसवंश्या वयमित्यर्थः। अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादृशा अस्मद्विधानां त्यादिष्विरयादिना दृशेः क्विन्। चाटुषु सुभाषितेषु ये रसाः शृङ्गारादय त एव अमृतानि स्वर्लोके लोका जनाः 'लोकस्तु भुवने जन' इत्यमरः। तेभ्य इतरैर्मनुष्यैर्दुर्लभानि लब्धुमशक्यानीत्यर्थः

समासविग्रहादि—सहस्रं पत्त्राणि यस्य तत् सहस्रपत्रं, सहस्रपत्रम् आसनम् यस्य स सहस्रपत्रासनः, सहस्रपत्रासनस्य पत्त्रहंसा तेषां वंश तस्य सहस्रपत्त्रासनपत्त्रहंसवंशस्य। अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादृश तेषाम् अस्मादृशा-नाम्। चाटुषु रसा ते एव अमृतानि इति चाटुरसाऽमृतानि। स्वरवासौ लोक स्वर्लोकः, स्वर्लोके लोका तेभ्यः इतरे तैः दुर्लभानि इति स्वर्लोकलोकेतर दुर्लभानि।

व्याकरण—अस्मादृशाना=अस्मत्+दृश्+क्विन आत्वम्। दुर्लभ= दुर+लभ्।

विशेष—इस पद्य में रस को अमृत बतलाया गया है, अतः रूपक अलङ्कार है। लोक लोके में अनुप्रास अलङ्कार है।

पूर्वाभास—अपने भोज्य पदार्थों के समान हम हंसों का रूप भी समृद्ध है—

**स्वर्गाऽऽपगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाऽग्रभुजो भजामः।**
**अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥१७॥**

अन्वय—स्वर्गाऽऽपगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुज अन्नानुरूपां

तनुरूपर्क्धि मजाम , हि कार्यं निदानात् गुणान् अधीते ।

शब्दार्थ—स्वर्गाऽऽपगाहेममृणालिनीना = आकाश गङ्गा के स्वर्ण-कमलिनियो के नाल, नालमृणालाऽग्रभुज = तथा मृणाल के अग्रभाग को खाने वाले (हम लोग) अन्नानुरूपा = अन्न के अनुरूप, तनुरूपर्क्धि = शरीर की रूप समृद्धि को, भजाम प्राप्त हैं, हि = क्योंकि, कार्य = कार्य, निदानात् = उपादान कारण से, गुणान् = गुणो को, अधीते = प्राप्त करता है।

अनुवाद—आकाश गङ्गा की स्वर्णकमलिनियो के नाल तथा मृणाल के अग्रभाग को खाने वाले हम लोग अन्न आहार के अनुरूप शरीर की रूप समृद्धि को प्राप्त हैं, क्योंकि कार्य उपादान कारण से गुणो को प्राप्त करता है।

भावार्थ—जैसा कारण होता है, तदनुरूप कार्य होता है। हम कहना है कि हम लोग आकाश गङ्गा की स्वर्णकमलिनियो के मृणाल के अग्रभाग का भक्षण करते है, अत, हमे तदनुरूप रूप समृद्धि प्राप्त है।

जीवातु संस्कृत टीका—अथ स्वाकारस्य कनकमयत्वे कारणमाह—स्वर्गेति। स्वर्गापगा स्वर्णदी तस्या हेममृणालिन्यस्तासा या नाला काण्डा यानि मृणालानि कन्दाश्च। अत्रनाला मृणालशब्दस्य शब्दानुशासन केषा शब्दानामिति—वममामे गुणभूतेन सम्बन्ध सोऽव्य 'नालो नालमथास्त्रियाम्' त्यमरवचना—न्नालेनि स्त्रीलिङ्ग निर्देश न च तथापि सन्देह। तद्व्याख्यानेषु देशान्तरकोशेषु च स्त्रीलिङ्गपाठस्यैव दर्शनात्। तथा च दशमे सर्गे प्रयोक्ष्यते 'मृदुत्व प्रौढमृणालनालया' इति, नाला 'स्याद्बिसकन्द' इति विश्व, तेषामग्राणि भुञ्जत इति तद्भुज वयमिति शेष। अन्नानुरूपामाहार सदृशीन्तनो शरीरस्य रूपर्द्धि वर्णसमृद्धिम् 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभाव। भजाम प्राप्त स्म इत्यर्थ। तथा हि कार्यजन्य द्रव्य निदाना—दुपादानात्, 'आख्यातोपयोग' इत्यपादानता गुणान् रूपादिविशेषगुणान् अधीते प्राप्नोतीत्यर्थ। प्राप्तिविशेषवाचिनस्तत्सामान्यलक्षणात् प्रायेण आहारपरिण—विशेषपूर्विका प्राणिना कायकान्तय इति भाव। सामान्येनविशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्त—न्यास ॥

समासविग्रहादि—स्वर्गे अपगा स्वर्गापगा, हेम्नो मृणालिन्य हेम—मृणालिन्य, स्वर्गापगाया हेममृणालिन्य तासाम् स्वर्गाऽऽपगा हेममृणालिनीना। नालाश्च मृणालाणि च तानि भुञ्जन इति नालमृणालाऽग्रभुज, अन्नस्य अनुरूपा अन्नानुरूपा ताम् अन्नानुरूपा, रूपस्य ऋद्धि, रूपर्द्धि तनो रूपर्द्धि तामनुरूपर्द्धि।

व्याकरण—आपगा = अप् + गम् + ड + टाप्, भुज = भुज् + क्विप् (कर्तरि), अद्यते = अद् + क्त।

विशेष—इस पद्य में पूर्व में कहे गए तीन विशेष चरणों का चौथे सामान्य चरण से समर्थन है, अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

'मृणालिं' 'मृणाल्या', 'भुजा' 'मजा' तथा 'रूपी' 'रूप' में अनुप्रास अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हंस कहता है कि ब्रह्मा के आदेश से आकर भूलोक में घूम रहा हूँ।

धातुर्नियोगादिह नैषधीयं लीलासरस्सेवितुमागतेषु ।
हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्कः ॥१८॥

अन्वय—(हे भैमि) विधेः नियोगात् इह नैषधीयम् लीलासरः सेवितुम् आगतेषु हैमेषु हंसेषु अहम् एक एव भूलोकविलोकनोत्कः सन् भ्रमामि।

शब्दार्थ—(हे भैमि=हे दमयन्ती!) विधेः=ब्रह्मा की नियोगात्—आज्ञा से इह—इस भूलोक में, नैषधीयम्=नल के, लीलासरः=क्रीडा सरोवर का सेवितुम्=सेवन करने के लिए आगतेषु=आये हुए हैमेषु=स्वर्ण के हंसेषु=हंसों में, अहम् एव एक=मैं अकेला ही, भूलोकविलोकनोत्कः सन्=पृथ्वी लोक को देखने के लिए उत्कण्ठित हुआ भ्रमामि=घूम रहा हूँ।

अनुवाद—हे दमयन्ती! ब्रह्मा की आज्ञा से इस भूलोक में नल के क्रीडासरोवर का सेवन करने के लिए आए हुए स्वर्णमयी हंसों में मैं अकेला ही पृथ्वी लोक को देखने के लिए उत्कण्ठित हुआ घूम रहा हूँ।

भावार्थ—यहाँ हंस ने अपनी विशेषता बतलाई है कि ब्रह्मा की आज्ञा से अनेक हंस नल के क्रीडा सरोवर का सेवन करने के लिए आये हैं उनमें से मैं अकेला ही पृथ्वी लोक को देखने का इच्छुक होकर घूम रहा हूँ।

जीवातु संस्कृत टीका—अथात्मनः स्मरोक्तिः गमनकारणमाह—धातुरिति। धातुर्ब्रह्मणो नियोगादादेशादिह भूलोके नैषधीयं नलीयं लीलासरः सेवितुं क्रीडासरसि विहर्तुमित्यर्थः। आगतेषु हैमेषु हेमविकारेषु। विकारार्थेऽण् प्रत्ययः। 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः। हंसेषु मध्ये अहमेक एव भूलोकविलोकने उत्कः सन् 'उत्क उन्मना' इत्यमरः उत्कण्ठावान् प्रत्ययान्तो निपातः भ्रमामि पर्यटामि॥

समासविग्रहादि—निषधानामयं नैषधः, नैषधस्य इदम् नैषधीयं। भुवः लोको भूलोकः तस्य विलोकने उत्कः भूलोकविलोकनोत्कः।

व्याकरण—नैषधीय=निषध+अण्+छ, हैमेषु=हेमन्+अण्+सुप्, भ्रमामि=भ्रम+लट्+मिप्।

विशेष—इस पद्य मे पृथ्वी पर आने तथा भ्रमण का कारण बतलाने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हस कहता है कि मैं पूर्वजो के आशीर्वाद के कारण थकता नही हूँ।

**विधे. कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यस्स्वमहत्तरेभ्य. ।**
**स्कन्धस्य विश्रान्तिमदा तदादि श्राम्यामि नाविश्रमविश्वगोऽपि १९**

अन्वय—कदाचित् विधे भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्य स्वमहत्तरेभ्य स्कन्धस्य विश्रान्तिम् अदाम्, तदादि अविश्रमविश्वग अपि न श्राम्यामि ॥

शब्दार्थ—कदाचित्=किसी समय, विधे=ब्रह्मा के, भ्रमणी—विलासे=भ्रमण के विलास मे, श्रमातुरेभ्य=परिश्रम से थके हुय, स्वमहत्तरेभ्य=अपने पूर्वजो को, स्कन्धस्य=कन्धे का, विश्रान्ति=विश्राम, अदाम्=दिया था तदादि=तब से लेकर, अविश्रमविश्वग=निरन्तर विश्व भ्रमण करने पर, अपि=भी, न श्राम्यामि=नही थकता हूँ।

अनुवाद—किसी समय ब्रह्मा के भ्रमण के विलास मे परिश्रम से थके हुए अपने पूर्वजो को कन्धे का विश्राम दिया था, तब से लेकर निरन्तर विश्व-भ्रमण करने पर भी मैं थकता नही हूँ।

भावार्थ—हस कहता है कि किसी समय ब्रह्मा क्रीडा हेतु घूमने निकले थे। उनके घूमते समय मेरे जो पूर्वज थक गये थे, उनको मैंने कन्धे पर ठहराकर विश्राम दिया था। उनके आशीर्वाद का ही यह फल है कि निरन्तर विश्वभ्रमण करते हुए भी मैं थकता नही हूँ।

समासविग्रहादि—भ्रमण्या विलास तस्मिन् भ्रमणीविलासे, अतिशयेन महान्तो महत्तरा, स्वस्मात् महत्तरा तेभ्य स्वमहत्तरेभ्य । अविद्यमान विश्रम यस्मिन् कर्मणि इति अविश्रम विश्व गच्छतीति विश्वग अविश्रमविश्वग ।

व्याकरण—महत्तरा=महत्+तरप्, भ्रमणी=भ्रम+ल्युट्+ङीप, विश्रान्तिम्=वि+श्रम्+क्तिन्, अदाम्=दा+लुङ् सिच् का लोप विश्रम=वि+श्रम्+घञ्, विश्वग=विश्व+गम्+ड ।

विशेष—हस ने यहाँ पर न थकने का हेतु बतलाया है, अत काव्य-लिङ्ग अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हस कहता है नल के बिना इस लोक मे कोई मुझे पकड नही सकता ।

**बन्धाय दिव्येन तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषः स्यात्।**
**एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥२०॥**

अन्वय—मादृशि दिव्य तिरश्चि विरलोदयस्य नरस्य एक स्वर्भोगभाग्य विना कश्चित् पाशादि बन्धाय आसादितपौरुषो न स्यात्।

शब्दार्थ—मादृशि=मुझ जैसे, दिव्ये=दिव्य, तिरश्चि=पक्षी के विषय मे, विरलोदयस्य=दुर्लभजन्म वाले, नरस्य=नर (मनुष्य) के (अथवा नर के र के स्थान पर ल प्रयुक्त करने पर नल के), एक=मुख्य, स्वर्भोगभाग्य=स्वर्ग के भोग के भाग्य के, विना=विना, कश्चित्=कोई भी, पाशादिबन्धाय=पाशादि बन्धन के लिए, आसादितपौरुषो=प्राप्त पुरुषार्थ वाला, न स्यात्=नही हो सकता।

अनुवाद—मुझ जैसे दिव्य पक्षी के विषय मे दुर्लभ जन्म वाले नर (र के स्थान पर ल प्रयुक्त करने पर नल) के एक स्वर्ग के भोग के भाग्य के विना कोई भी पाशादि बन्धन के लिए प्राप्त पुरुषार्थ वाला नही हो सकता।

भावार्थ—हस कहता है कि मैं दिव्य पक्षी हूँ। वही व्यक्ति मुझे पकडने मे समर्थ हो सकता है, जो इस लोक मे रहते हुए भी दिव्य भोगो का भोग करता है। नल के सिवाय इस लोक मे कोई भी ऐसा नही है, जो कि मुझे पाशादि के बन्धन मे डाल सके।

जीवातु संस्कृत टीका—अथ व्याधादिबन्धशङ्कामपि न मे इत्याह—बन्धायेति। मादृशि दिव्ये तिरश्चि विषये विरलोदयस्य दुर्लभजन्मनो नरस्य मर्त्यस्य प्रायेणैवविधा नास्तीत्यर्थः। अन्यत्र विरविगतरेफः स चासौ लोदयो लादयवाश्च मत्वर्थीयोऽकारः। तस्य रेफस्थानाधिष्ठित लकारस्य नलस्येत्यर्थः। शब्दधर्मोऽपि उपचर्यते, भाग्या इति भाग सुख स्वर्गभोगस्य स्वर्गसुखस्य भाग्य तत्प्रापकादृष्ट-मित्यर्थः। स्वप्राप्तिस्तत् प्रापकत्वादिति भाव। तदेक विना कश्चित् पाशादि पाशाद्युपाय। बन्धाय बन्धनार्थमासादितपौरुष प्राप्तव्यापारो न स्यात्। स्वर्भोग मार्गैकमुखमाक्र, नोपायान्तरसाध्याइत्यर्थः अस्मादृक् ससर्गादन्य को नाम स्वर्गपदार्थ इति भाव।

समासविग्रहादि—विरल उदयो यस्य स विरलोदय तस्य विरलोदयस्य अथवा विगत र यस्मात् स विर, तस्य उदयो यस्मिन् स लोदय, विरश्चासौ लोदय विरलोदय। स्व भाग स्वर्भोग तस्य भाग्यतत् स्वर्भोगभाग्य पाश आदिरस्य स पाशादि। आसादित पौरुष येन स आसादितपौरुष।

व्याकरण—बन्धाय—बन्ध्+घञ् तुमर्थे चतुर्थी, दिव्य=दिव्+यत्, ... मादृशि=अस्मद्+दृश् ... क्विन् मदादेश अकारादेशश्च।

स्यात्=अस्, विधिलिङ्+तिप् ।

विशेष—इस पद्य में विरोधय शब्द में श्लेष अलङ्कार है।

पूर्वाभास—नल के अच्छे कार्यों के कारण वशीभूत हुए देवता इस लोक में दिव्य भोग प्रदान करते हैं—

**इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्याः स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः ।**
**महीरुहादोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति ॥२१॥**

अन्वय—इष्टेन पूर्तेन च वश्याः अमर्त्याः अत्र अपि नलस्य स्वर्भोगम् सृजन्ति। महीरुहाः दोहदसेकशक्तेः आकालिकम् कोरकम् उद्गिरन्ति।

शब्दार्थ—इष्टेन=यज्ञादि से पूर्तेन च=तथा कुयें आदि का निर्माण करने से, वश्याः=वश में आने योग्य, अमर्त्याः=देवगण, अत्र अपि=इस लोक में भी, नलस्य=नल के लिए, स्वर्भोगम्=स्वर्ग के भोग का, सृजन्ति=सृजन करते हैं। महीरुहाः=वृक्ष, दोहदसेकशक्तेः=धूप आदि दोहद और सिंचन की शक्ति से, आकालिकम्=असमय में ही, कोरकम्=कलियों को, उद्गिरन्ति=प्रकट करते हैं।

अनुवाद—यज्ञादि से तथा कुयें आदि का निर्माण करने से वश में आने योग्य देवगण इस लोक में भी नल के लिए स्वर्ग के भोग का सृजन करते हैं। वृक्ष धूप आदि दोहद और सिंचन की शक्ति से असमय में ही कलियों को प्रकट करते हैं।

भावार्थ—नल यज्ञादि करना तथा कुयें आदि का निर्माण करना आदि लोकोपयोगी कार्य कराता है। इससे प्रसन्न होकर देवगण भी इस नल के लिए स्वर्ग के भोग का सृजन करते हैं। वृक्ष धूप आदि दोहद और सिंचन की शक्ति से असमय में ही कलियों को प्रकट करते हैं।

जीवातु संस्कृत टीका—तच्च भाग्यं नलस्यैवास्तीत्याह—इष्टेनेति। इष्टेन यागेन पूर्तेन खातादिकर्मणा च। 'त्रिष्वथ क्रतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादिकर्मणि' इत्यमरः। वश्याः वशङ्गताः इति प्राग्दीव्यतीयो यत्प्रत्ययः। अमर्त्याः देवाः नलस्यात्रापि भूलोके स्वर्भोगं सृजन्ति स्वर्गसुखं सम्पादयन्तीत्यर्थः। ननु देवादयः कथं लोकान्तरं कामान्तरभोग्यं स्वर्गमिदानीं सृजन्तीत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहरति। महीरुहो वृक्षाः दोहदस्य अकालप्रसवोत्पादनद्रव्यस्य सेकस्य जलसेकस्य शक्तेः सामर्थ्यात् स्वमानकालाबाधेनो उत्पत्ति विनाशौ यस्येत्याकालिकम् उत्पत्त्यनन्तरं विनाशीत्यर्थः।

'अकालिकडाद्यन्तवचन, इति समानकाल शब्द स्याकाल शब्दादेशो ठञ् प्रत्ययान्तो निपात । प्रकृते त्वकालमव कोरकमुद्गिरन्तीत्यर्थ ।' तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलै कृतम् । पुष्पाद्युत्पादक द्रव्य दोहद स्यात्तु तत्क्रिया इति शब्दार्णवे । दोहदवशाद वृक्षा इव देवता अपि उत्कटपुण्यवशाददेशकालेऽपि फल प्रयच्छन्तीत्यर्थ दृष्टान्तालङ्कार ।

समासविग्रहादि —दोहद च सेवनम् दोहदसेवनौ, तयो शक्ति तस्या इति दोहदसेवनशक्ते । न काल अकाल, अकाले भव आकालिक तम् आकालिकम्।

व्याकरण —इष्टेन=यज्+क्त+टा । पूर्तेन=पु+क्त+टा । दत्या=दत्+वत्, महीरुहा=मही+रुह+क दोहद=दोह+दा+क । आकालिकम्=अकाल+ठञ् ।

विशेष —इस पद्य मे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्तालङ्कार है ।
पुष्पादि के उत्पादक द्रव्य को दोहद कहते है ।

अग्निहोत्र, तप सत्य, वेद की रक्षा, आतिथ्य और वैश्वदेव इष्ट कहे जाते है तथा वापी, कूप, सरोवर, देवालयन, अन्न प्रदान और उद्यान ये पूर्त कहे जाते है । कहा भी है —

अग्निहोत्रतप सत्य वेदाना चैव पालनम्
आतिथ्य वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते ॥"
"वापी कूप तडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमाराम पूर्तमित्यभिधीयते ॥"

कोरक शब्द यहाँ पुष्प, फलादिक का उपलक्षण है ।

पूर्वाभास —इस नल को पद्मो से पड़ना सतत है ।

**सुवर्णशैलादवतीर्य तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवतीर्णं ।**
**त वीजयाम स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृप चामरबद्धसर्यं ॥२२॥**

अन्वय —सुवर्णशैलात् तूर्णम् अवतीर्य स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवतीर्णं चामरबद्धसर्यं पक्षै स्मरकेलिकाले त नृप वीजयाम ॥

शब्दार्थ —सुवर्णशैलात्=सुमेरु से, तूर्णम्=शीघ्र, अवतीर्य=उतर-कर स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवतीर्णं=मन्दाकिनी के जल के बिन्दुओं से समन्वयुक्त, चामरबद्धसर्यं=चामर के समान, पक्षै=पखो से स्मरकेलिकाले—रतिक्रीडा

के समय, त नृप=उस राजा को (हम) वीजयाम=पखा झलते है।

अनुवाद—सुमेरु स शीघ्र उतरकर मन्दाकिनी के जल के विन्दुओ के सम्पकयुक्त चामर के समान पखो से रतिक्रीडा के समय उस राजा नल को हम पखा झलते हैं।

भावार्थ—सुमेरु पर्वत से उतरकर हम अपने पखो से रतिक्रीडा के समय उस राजा नल को पखा झलते है। हमारे ये पखे जलकणो के सम्पर्क से शीतल चामर के समान लगते हैं।

जीवातु सस्कृत टीका—सुवर्णेति। सुवर्णशैलान्मेरोस्तूर्णमवनीय्य अवरुह्य स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णे मन्दाकिनी जलबिन्दुसम्पृक्तै चामरेषु बद्धसख्यैस्तत्सदृशै पक्षै पतत्रै स्मरकेलिकाले त नृप वीजयाम तादृक्पक्षवीजनै सुरत श्रान्तिमपनुदाम इत्यर्थ।

समासविग्रहादि—सुवर्णशैलात्=सुवर्णस्य शैल सुवर्णशैल तस्मात् सुवर्णशैलात्। वारिण कणा वारिकणा स्वर्वाहिन्या वारिकणा तै अवकीर्णा तैं स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवकीर्णे। चामरेषु बद्धसख्या तै चामरबद्धसख्यै। स्मरस्य केलि, तस्य काल, तस्मिन्, स्मरकेलिकाले।

व्याकरण—अवनीर्य=अव+तृ+क्त्वा (ल्यप्), तूर्णम=त्वर्+ऊठ्, वाहिनी=वाह्+इन्+ङीप्। सख्यम्=सखि+यत्।

विशेष—पखो के चामर के समान बतलाने से यहा उपमा अलकार है।

पूर्वाभास—हम की दृष्टि मे सज्जनो की गणना मे नल का नाम प्रथम है।

**क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता, व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाऽभिधेया।**
**या स्वौजसा साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमानामपदं बहु स्यात्।२३।**

अन्वय—साधुविभक्तिचिन्ता, व्यक्तिस्तदा सा प्रथमा अभिधेया। या स्वौजसा विलासै तावत् बहु अनामपदम् (पक्षान्तर—नामपद) साधयितु क्षमा स्यात्।

शब्दार्थ—१-साधुविभक्तिचिन्ता=साधुओ के विभाग का विचार, क्रियेत् चेत्=यदि किया जाय तो, सा=वह (नल नाम वाली) व्यक्ति=व्यक्ति, प्रथमा=प्रथम, अभिधेया=कही जाएगी, या=जो, स्वौजसा=अपने ओज के,

विलासै =विलासों से, तावत् बहु अनामपदम्=बहुत से शत्रुओं के राष्ट्र को, साधयितु =अपने वश में करने में क्षमा स्यात्=समर्थ होगी।

२ साधु=भली प्रकार विभक्तिचिन्ता=विभक्तियों का विचार, चेत् क्रियेत्=यदि किया जाएगा तो, सा व्यक्ति =वह प्रथमा विभक्ति, प्रथमा अभिधेया=पहले कही जाएगी। या =जो, स्वौजसा=सु, औ, जस प्रत्ययों के विलासै =विस्तारों से तावत बहु नामपद=बहुत से सुबन्तपदों को साधयितु =सिद्ध करने के लिए, क्षमा - समर्थ स्यात =होगी।

अनुवाद—१-साधुओं के विभाग का विचार यदि किया जाय तो वह नाम वाला व्यक्ति प्रथम कहा जायगा जो अपने ओज के विलासों से बहुत से शत्रुओं के राष्ट्र को अपने वश में करने में समर्थ होगा।

२ भली प्रकार विभक्तियों का विचार यदि किया जायगा तो यह प्रथमा विभक्ति पहले कही जायगी जो सु, औ, जस् प्रत्ययों के विस्तारों से बहुत से सुबन्तपदों को सिद्ध करने के लिए समर्थ होती है।

भावार्थ—नल सज्जनों में प्रथम है। वह शत्रुओं के राष्ट्र को अपने वश में करने में उसी प्रकार समर्थ होगा, जिस प्रकार विभक्तियों में प्रथम प्रथमा विभक्ति अपने प्रत्ययों के द्वारा बहुत से सुबन्तपदों को सिद्ध करने में समर्थ होती है।

जीवातु संस्कृत टीका—क्रियतेति। साधुविभक्तिचिन्ता सज्जनविभागविचार क्रियते चेत् तदा नलाभिधाना व्यक्ति मूर्ति प्रथमाभिधेया प्रथम परीगणनीया, पुन या व्यक्ति स्वौजसां बलानां विलासैर्व्याप्तिभि तावद बहु तथा प्रभूत नास्ति नामो नतियस्मिन्ति अनामकमतत्र पद परराष्ट्र साधयितु स्वायत्तीकर्तुं क्षमा समर्था स्यात्। अपर साधुविभक्तिचिन्ता सम्यविभक्तिविचार क्रियेत चेत् तदा सा प्रथमा व्यक्ति अभिधेया विचार्या, या स्वौजसा 'सु औ जस' इत्येतेषा प्रत्ययानां विलासै विस्तारैस्तावद बहु अपार नामपद 'सुबन्तपद 'वृक्ष' इत्यादि पद साधयितु निष्पादयितु क्षमा। अत्रानिपादा प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रितत्वा लगाणायाद्यानुपपत्त्यभावेनाभावाद प्रकृताप्रकृतश्लेष इति ज्ञेयम्

समासविग्रहादि—साधूना विभक्ति तस्यादिचिन्ता साधुविभक्तिचिन्ता, प्रथमम् अभिधेया प्रथमाभिधेया। स्वस्य ओजांसि तथा स्वौजसा, अनामाना पद अनामपदम्।

व्याकरण—विभक्ति =वि+भज्+क्तिन्। व्यक्ति =वि+अञ्ज् क्तिन् क्षम =क्षम्+अच्।

विशेष—यहा उपमा अलङ्कार है । कुछ लोगो के अनुसार यहाँ समासोक्ति अलकार है, क्योकि प्रस्तुत नलपरक वस्तु पर अप्रस्तुत व्याकरण वस्तु का आरोप किया गया है ।

पूर्वाभास—राजा नल यज्ञ के घृत के शेष भाग का राज्य के अशेष भाग का उपयोग करते हैं ।

**राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वा ऽ ध्वरा ऽऽ ज्योपमयेव राज्यम्।**
**भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्री. पूर्वं त्वहो । शेषमशेषमन्त्यम्।२४।।**

अन्वय—यज्वा श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्री स राजा अध्वराज्योपमयाइव राज्य विबुधव्रजत्रा कृत्वा पूर्वं शेषम्, अन्त्यतुअशेषमुङ्क्ते अहो ।

शब्दार्थ—यज्वा=विधिपूवक यज्ञ करने वाले, और श्रितश्रोत्रियसात्कृत श्री=आश्रित वेदपाठियो को धन देने वाले, स राजा=वे राजा नल, अध्वराज्योपमयाइव=यज्ञीय घृत के समान, राज्य=राज्य को विबुधव्रजत्रा=विद्वानो के अधीन, कृत्वा करके पूर्वं यज्ञ=यज्ञ के घृत का, शेषम्=शेषभाग, तु अन्त्य= और पीछे कहे गए राज्य के, अशेष=सम्पूण भाग का, भुङ्क्ते=उपयोग करते है, अहो=आश्चय है ।

अनुवाद—विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले और आश्रित वेदपाठियो को धन देने वाले वे राजा नल यज्ञीय घृत के समान राज्य को विद्वानो के आधीन करके यज्ञ के घी का शेष भाग तथा राज्य के अशेष (सम्पूण) भाग का उपभोग करते हैं, आश्चय है ।

भावार्थ—राजानल विधिपूवक यज्ञ करते हैं । वे अपने आश्रित वेदपाठियो को धन देते हैं। जिस प्रकार वे यज्ञीय घृत को विद्वानो को प्रदान करते हैं। उपयोग से पूव वस्तु सम्पूर्ण रहती है, उपयोग करने पर शेष रह जाती है । किन्तु आश्चय है कि राजा नल यज्ञ के घी का शेष भाग उपयोग कर राज्य के अशेष भाग (सम्पूर्ण भाग) का उपयोग करते है ।

जीवातु सस्कृत व्याख्या—राजेति । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' 'सुयजोर्ङ्वनिप्', श्रोत्रियच्छान्दसौ समावि त्यमर । 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीत' इति निपात । तत्सात्कृता दानेन तदधीना कृता श्री सम्पद्येन स राजा नल अध्वरेषु यदाज्यन्तदुपमया तत्सादृश्येनैव तद्वदेवेत्यर्थ । राज्य विबुधा देवा विद्वासश्च तद्वत्रा दानेन तत्सङ्घाधीन कृत्वा देये त्रा चे' ति चकारादित्रत्र सातिप्रत्ययश्च, 'तद्धितश्चासर्वविभक्ति'रित्यव्ययत्वम्, पूर्वं पूर्वनिर्दिष्टमध्वराज्य शेष हुतशेष

भुङ्क्ते, अहो उपभुक्ताद य शेप पूर्वस्यापिपस्य तयात्वम्, अत्यम्य अर्थिपत्व क्य विरोधादित्याश्चर्यम्, अत एव विरोधाभासोऽलङ्कार, अताण्डमिति परिहार ।

समासविग्रहादि—श्रित श्रोत्रियमात्कृताध्वरैर्येन स श्रितश्रोत्रियमात्कृत श्री, अध्वरराजस्य उपमा तया अध्वरराज्योपमया, न शेष अशेष ।

व्याकरण—यज्वा=यज्+ङ्वनिप्, अन्त्यम्=अन्त्य+यत् भुङ्क्ते=भुज+लट्+त ।

विशेष—इस पद्य मे विरोधाभास अलंकार है । अध्वरोपमया मे उपमा अलंकार है ।

पूर्वाभास—नल से सभी अभिलषित वस्तुयें माँगते हैं ।

दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैरमोघमेघव्रतमर्थिसार्थे ।
सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेव नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥२५॥

अन्वय—दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैः अर्थिसार्थे अमोघमेघव्रत सन्तुष्ट इष्टदेव लोकनाथ त के नाम इष्टानि न नाथन्ति ?

शब्दार्थ—दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैः=दरिद्रता को दूर करने वाली धनराशि की वर्षा से, अर्थिसार्थे=याचकों के समूह मे, अमोघमेघव्रत=सफल मेघ के समान व्रत करने वाले, सन्तुष्ट=सन्तुष्ट, इष्टदेव=यज्ञ के द्वारा देवताओ की आराधना करने वाले, लोकनाथ=लोकनाथ, त=नल से, के नाम=कौन, इष्टानि न नाथन्ति=इष्ट पदार्थों की याचना नहीं करते ?

अनुवाद—दरिद्रता को दूर करने वाली धनराशि की वर्षा से याचको के समूह मे सफल मेघ के समान व्रत करने वाले सन्तुष्ट, यज्ञ के द्वारा देवताओं की आराधना करने वाले लोकनाथ नल से कौन इष्ट पदार्थों की याचना नहीं करते ? अर्थात् सभी करते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार मेघ वर्षा कर पृथ्वी को सफल करता है, उसी प्रकार नल धनराशि की वर्षा करके याचकों को सफल करते हैं । यज्ञीय क्रियाओं द्वारा वे देवताओं की आराधना करते हैं । वे प्रजा के नाथ हैं । उनसे सभी व्यक्ति इष्ट पदार्थ की याचना करते हैं ।

जीवातु संस्कृत टीका—दारिद्र्येति । दारिद्र्य दारयति निवर्तयतीति तस्य दारिद्र्यदारिणो द्रविणौघस्य धनराशेर्वर्षैरर्थि सार्थे विषये अमोघमेघव्रत वर्षुकत्वलक्षण यस्य त सन्तुष्ट दानहृष्टमिष्टदेव यज्ञाराधितसुरलोकनाथ त नल के

नाम इष्टानि न नाथन्ति ? न याचन्ते सर्वेऽपि नाथन्त्येवेत्यर्थः । नाथतेर्याच्ञार्थस्य दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् ।

समासविग्रहादि—दारिद्र्य दारयतीतिदारिद्र्यदारी, द्रविणानाम् ओघ द्रविणौघ, दारिद्र्यदारी चाऽसौ द्रविणौघ तस्य वर्षाणि तैः दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षै । आर्थिना सार्थं अर्थिसार्थं तस्मिन् अर्थिसार्थे । न मोघ अमोघम्, मेघस्य व्रतम् मेघव्रतम्, अमोघ मेघव्रत यस्य स तम् अमोघमेघव्रत । इष्टा देवा येन स तम् इष्टदेवम् । लोकस्य नाथ त लोकनाथ ।

व्याकरण—दारिद्र्य=द+णिच्+णिनि । वर्ष=वृष्+घञ् । इष्टानि=इष्+क्त (भावे), यज्+क्त (कर्मणि) ।

विशेष—मेघव्रतम् मे उपमा अलकार है।

पूर्वाभाष—रम्भा भी नल के प्रति अनुरक्त थी।

**अस्मतिकल श्रोत्रसुधां विधायरम्भा चिरंभामतुलां नलस्य ।**
**तत्रानुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा ॥ २६ ॥**

अन्वय—सा रम्भा नलस्य अतुलाम् भाम् अस्मत् चिरम् श्रोत्र सुधाम् विधाय तत्र अनुरक्ता (सती) तम् अनाप्य तन्नामगन्धात् नलकूबरम् भेजे किल।

शब्दार्थ—सा=वह, रम्भा=रम्भा नाम की अप्सरा, नलस्य=नल की अतुलाम्=अनुपम, भाम्=कान्ति को, अस्मत्=हम से, चिरम्=देर तक, श्रोत्र-सुधाम्=कानो का अमृत, विधाय=बनाकर, तत्र=उस पर, अनुरक्ता (सती)=अनुरक्त होती हुई, तम्=उसको, अनाप्य=न पाकर, तन्नामगन्धात्=उसके नाम के सम्बन्ध से, नलकूबर=नलकूबर को, भेजे=प्राप्त हुई।

अनुवाद—वह रम्भा नाम की अप्सरा नल की अनुपम कान्ति को देर तक कानो का अमृत बनाकर उस पर अनुरक्त होती हुई उसको न पाकर उसके नाम के सम्बन्ध से नलकूबर को प्राप्त हुई।

भावार्थ—रम्भा नाम की अप्सरा ने हमसे नल की अनुपम कान्ति के विषय में सुना। कानो के लिए अमृत के समान नल की कान्ति को सुनकर वह उसके प्रति अनुरक्त हो गयी, किन्तु उसे न पाने पर उसके नाम के साथ जिसका सम्बन्ध था, ऐसे नलकूबर को प्राप्त हुई।

जीवातु संस्कृत टीका—अस्मदिति। सा प्रसिद्धा रम्भा नलस्यातुला अनुपमा भा सौन्दर्यमस्मत् मत्त श्रोत्रसुधा विधाय कर्णे अमृत कृत्वा समाकर्ण्येत्यर्थ तत्र तस्मिन्नले अनुरक्ता सती त नलमनाप्य अप्राप्य, आङ्पूर्वादाप्नोते क्त्वा

त्यवादेश नञ्समास । अन्यथा त्वसमासे त्यवादेशो न स्यात् तन्नामगन्धात्तत्र नलस्य नामश्रवणसम्पर्कादिलोनंलकूबर कुबेरात्मज भेजे किल । तादृक्तस्य सौन्दर्यमिति भाव ।

समासविग्रहादि—अविद्यमाना तुला यस्या सा अतुला ताम् अतुला । श्रोत्रयो सुधा श्रोत्रसुधा ता श्रोत्रसुधा । तस्य नाम तन्नाम, तस्य गन्ध तस्मात् तन्नामगन्धात् ।

व्याकरण—अस्मन्=अस्मद् + म्यस् । विधाय=वि + धा + क्त्वा (ल्यप) । अनुरक्ता=अनु + रञ्ज + क्त + टाप् । भेजे=भज + लिट् + त । तुला=तुल + अङ (भावे) ।

विशेष —यहाँ अतुलाम् मे अनन्वय अलकार है। गान को सुधा कहने मे रूपक अलकार है तथा किल शब्द से अनुप्रेक्षा अलकार द्योतित होता है।

पूर्वाभास —नल का गान इन्द्र के गवैये से भी अधिक उत्कृष्ट है।

स्वर्लोकमस्माभिरित प्रयातै केलीषु तद्गानगुणान्निपीय ।
हा हेति गायन्यदशोचि तेन नाम्नैव हा हा ! हरिगायनोऽभूत् ॥२७॥

अन्वय —केलीषु तद्गानगुणान् निपीय इत स्वर्लोकं प्रयातै अस्माभि हरिगायन गायन् यत् 'हा/हा" इति अशोचि, तत नाम्ना हा हा अभूत ।

शब्दार्थ —केलीषु=विनोद गोष्ठियो मे तद्गानगुणान्=नल के गान के गुणों को, निपीय पीकर (अर्थात् सुनकर), इत =यहाँ से, स्वर्लोकं=स्वर्गलोक को, प्रयातै =गए हुए अस्माभि =हम लोगो ने, हरिगायन =इन्द्र के गवैय ने, गायन=गाते हुए, यत्=जो, हा ! हा, इति=हा ! हा, इस प्रकार, अशोचि=शोक किया, तत =उससे, नाम्ना=नाम से, हा हा अभूत=हा हा हो गए।

अनुवाद —विनोद गोष्ठियो मे नल के गान के गुणों को सुनकर यहाँ से स्वर्गलोक को गए हुए हम लोगो ने इन्द्र के गवैये के गाते हुए जो हा ! हा, इस प्रकार (कहकर) शोक किया, उससे (वे) नाम से हा हा हो गए।

भावार्थ —विनोद गोष्ठियो मे हमो ने नल के गान के गुणो को सुना । इस लोक मे जब वे स्वर्गलोक को गए तो इन्द्र के गवैयो के गीत को सुना । नल के गान के सामने उनका गान अधिक उत्तम नही था, अत हसो के मुह से हा! हा के हाहाकार निकल गए। तब से इन्द्र के गवैयो का नाम हा हा हो गया।

जीवातु संस्कृत टीका —स्वर्लोकमिति । केलीषु विनोदगोष्ठीषु तस्य

नलस्यकुर्तु गाने गुणान्निपीय इत अस्माल्लोकात् स्वर्लोक प्रयातेरस्मान्हिरिगायन इन्द्रगायको गन्धर्व ण्युट् चे' ति गायते शिल्पिनि ष्युट्प्रत्यय । गायन् यद्यस्मात् हाहेत्यशोचि, ततस्तेनैव कारणेन नाम्ना हा हा अभूत्, आलापाक्षरानुकारादिति भाव हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसामित्यमर । 'आलापाक्षरानुकारनिमित्तो ऽयमाकारान्त पु सि चे' ति कश्चित् । हा हा खेदे हू हू हर्षगन्धर्वेऽमू अनव्यय' इति विश्व । अव्ययमेवेति भोज । अत्र अत्रशोकनिमित्तासम्बन्धेऽपि सम्बन्धादतिशयोक्ति' तथा च गन्धर्वातिशायि गानमस्येति वस्तु व्यज्यत ।

**समासविग्रहादि** —तस्य गान तद्गान, तद्गानस्यगुणा तान् तद्गानगुणान् ।

व्याकरण —निपीय=नि+पी+क्त्वा (ल्यप), गायन्=गै+लट (शतृ)+सु, अशोचि=शुच+लुङ् (कर्मणि) +त ।

**विशेष** —यहाँ इन्द्र के गवैये के प्रति शोक निमित्त का सम्बन्ध नही है, फिर भी सम्बन्ध का कथन किया गया है, अत अतिशयोक्ति अलकार है । इससे यह व्यक्त होता है कि नल का गान गन्धर्वों के गान से भी अधिक उत्कृष्ट है ।

**पूर्वाभास** —नल की उदारता को सुनकर इन्द्र एव इन्द्राणी भी प्रभावित थे ।

**श्रृण्वन्सदारस्तदुदारभावं हृष्यन्मुहुर्लोमपुलोमजाया ।**
**पुण्येन नालोकतनाकपालः प्रमोदवाष्पाऽऽवृतनेत्रमाल ॥ २८ ॥**

**अन्वय** —नाकपाल सदार तदुदारभाव श्रृण्वन् प्रमोदवाष्पावृतनेत्रमाल (सन्) पुलोमजाया मुहु हृष्यत् लोम पुण्येन न आलोकत ।

**शब्दार्थ** —नाकपाल = इन्द्र ने, सदार = पत्नी के साथ, तदुदारभाव= नल के उदार भाव को, श्रृण्वन्=सुनते हुए, प्रमोदवाष्पावृतनेत्रमाल = हर्ष के कारण उत्पन्न आँसुओ से जिसके नेत्रसमूह आवृत हो गए है, (सन्) ऐसा होते हुए) पुलोमजाया = इन्द्राणी के, मुहु बार बार,हृष्यत्=उल्लसित होते हुए, लोम= रोम को (रोमञ्च को) पुण्येन=पुण्य से, न आलोकत = नही देखा ।

**अनुवाद** —इन्द्र ने पत्नी के साथ नल के उदारभाव को सुनते हुए हर्ष के कारण उत्पन्न आँसुओं से जिसके नेत्र समूह आवृत हो गए है, ऐसा होते हुए, इन्द्राणी के बार-बार उल्लसित हुए रोमाञ्च को पुण्य से नही देखा ।

**भावार्थ** —नल की उदारता को सुनकर हर्ष से इन्द्र की आँखो मे आँसूआ जाते थे, इस कारण उसके नेत्र आवृत हो जाते थे । इन्द्राणी भी नल के विषय मे

सुनकर रोमाञ्चित हो गयी थी, किन्तु पुण्ययोग से इन्द्र ने उसे रोमाञ्चित नहीं देखा, क्योंकि उसके नेत्र आँसुओं से आवृत थे।

जीवातु संस्कृत टीका —शृण्वन्निति। नाकपाल इन्द्र सदार सवधूक तस्य नलस्य उदारभावमौदार्यं शृण्वन्नत एव प्रमोदवाष्पैरानन्दाश्रुभिरावृत नेत्रमालातिरोहितदृष्टि-श्च सन् पुलोमजाया शच्या मुहुर्मुहुः त्पन्नलान् गात्रेषु सञ्जातरोमाञ्च पुण्येन शच्या भाग्येन नालोकत नापश्यत् अन्यथा मानसव्यभिचारापराधाद् दण्डयैवेत्यर्थः।

समासविग्रहादि —नाकपालयतीति नाकपाल। उदारस्य भाव उदारभाव, तस्य उदारभाव तम् तदुदारभावम्। प्रमोदस्य वाष्पाणि तैः वृता नेत्राणां माला इति प्रमोदवाष्पऽऽवृतनेत्रमाल।

व्याकरण—शृण्वन्=श्रु+लट् (शतृ)+सु। पुलोमजाया =पुलोमन्+जन्+ड+टाप्+ङस्। आलोकत=आङ्+लोक+लङ्+त।

विशेष—इन्द्राणि को इन्द्र अपने आँखों मे आँसू आ जाने के कारण तथा इन्द्राणी के पुण्यवश के कारण रोमाञ्चित नहीं देख पाया। इस प्रकार यहाँ हेतु का कथन होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। नल के प्रति अभिलाषा के उदय के कारण भावोदय अलङ्कार है। दार', 'दार', 'लोम, 'लोम' तथा 'लोक' 'लोक' में यमक अलङ्कार है।

पूर्वाभास —पार्वती भी नल के गुणों के वर्णन के समय कानों को बन्द कर लेती थी।

## साऽपीश्वरे शृण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशम्भु। अभूदपर्णाऽङ्गुलिरुद्धकर्णा कदा न कण्डूयनकैतवेन ॥ २९ ॥

अन्वय —ईश्वर प्रसह्य चेत हरत तद्गुणौघान् शृण्वति (सती) सा अर्धशम्भु अपर्णा कदा कण्डूयनकैतवेन अङ्गुलिरुद्धकर्णा न अभूत ?

शब्दार्थ —ईश्वरे=महादेव के, प्रसह्य=बलात, चेत =चित्त को, हरत =हरण करने वाले, तद्गुणौघान्=उस नल के गुणों के विषय के शृण्वति=सुनते रहने पर, सा=वह, अर्धशम्भु=शम्भु की अर्द्धाङ्गिनी, अपर्णा=पार्वती, कदा=कब, कण्डूयनकैतवेन=खुजली के बहाने अङ्गुलिरुद्धकर्णा=उंगली से कान को बन्द करने वाली, न अभूत्=नहीं हुई।

अनुवाद—महादेव जब बलात् चित्त को हरने वाले नल के गुणसमूह के

विषय मे सुनने थे तो शिव की अर्द्धाङ्गिनी पार्वती कब खुजली के बहाने उगली से कान को बन्द करने वाली नही हुई।

जीवातु सस्कृत टीका—सेति ईश्वरे हरे प्रसह्य चेतो हरतो बलान् मनोहरिणस्तस्य नलस्य गुणौघान् शृण्वति सति सा प्रसिद्धा अध शम्भोरर्ध शम्भु शम्भोरर्द्धाङ्गिभूतेत्यर्थ । तथा चापसरणमशक्यमिति भाव । अपर्णा पार्वत्यपि कदा कण्डूयनकैतवेन कण्डूनोदन व्याजेन अङ्गुल्या रुद्ध पिहित कर्णौ यया सा नाभूत अभूदेवेत्यर्थ । अन्यथा चित्तचलनादिति भाव ।

समासविग्रहादि—गुणानाम् ओघा गुणौघा, तस्य गुणौघा तद्गुणौघ तान् तद्गुणौघान् अर्द्ध शम्भो अर्द्धशम्भु। अविद्यमान पर्ण यस्या सा अपर्णा । कण्डूयनस्य कैतव कण्डूयनकैतव तेन कण्डूयनकैतवेन। रुद्धो कर्णौ यया सा रुद्धकर्णा रङ्गुलिम्या रुद्धकर्णा इति अङ्गुलिरुद्ध कर्णा।

व्याकरण—हरत =हृञ् + शतृ + गस् । ईश्वर =ईश् + वरच । कण्डूयनम् = कण्डू + यक् + ल्यट (भावे)।

विशेष—यहाँ अपर्णा शब्द साभिप्राय प्रयुक्त होने से परिकर अलकार है। कण्डूयनकैतवेन मे अपह्नुति अलकार है।

पूर्वाभास —सरस्वती भी नल के प्रति अनुरक्त थी।

**अलं सजन् धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम् ।**
**तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्ता न वेद ता वेदजड स वक्राम् ॥३०॥**

अन्वय—विधाता धर्मविधौ अल सृजन् वाणी मौनस्य मिषेण रुणद्धि (किन्तु) वेदजड सताम् तत्कण्ठम् आलिङ्ग्य रसस्य तृप्ता वक्रा न वेद।

शब्दार्थ—विधाता=ब्रह्मा जी, धर्मविधौ= धर्म के आचरण में, अलम्=अत्यधिक, सजन्=आसक्त होती हुई, वाणीम्=वाणी को, मौनस्य= मौन के, मिषेण=बहाने से, रुणद्धि=रोकते है। (किन्तु) वेदजड =वेद का पाठ करने से जड, स=वह (ब्रह्मा), ताम्=वाणी को, तत्कण्ठम=नल के कण्ठ को, आलिङ्ग्य=आलिगनकर, रसस्य तृप्ता=अनुराग से सन्तुष्ट (शृगरादि रस से सन्तुष्ट), वक्रा=प्रतिकूल(वक्रोक्ति अलकार से युक्त), न वेद=नही जानते है।

अनुवाद—ब्रह्मा जी धर्म के आचरण मे अत्यधिक आसक्त हुए वाणी को मौन के बहाने से रोकते हैं, किन्तु वेद का पाठ करने से जड वह ब्रह्मा उस वाणी को नल के कण्ठ को आलिगन कर अनुराग से सन्तुष्ट, प्रतिकूल नही

जानते हैं ।

भावार्थ—ब्रह्मा जी धर्म के आचरण मे अत्यधिक आसक्त है। वे वाणी को मौन के बहाने अपने भीतर रोककर वेद का पाठ करने मे लग जाते हैं । इस प्रकार जडबुद्धि वे नल का आलिंगन करती हुई, उसके प्रति अनुरक्त वाणी को नही जानते है ।

जीवातु सस्कृत टीका —अलमिति । विधाता ब्रह्मा अलमत्यन्त धर्मविधौ गुरुताचरणे सजन् धर्मासक्त सन्नित्यर्थ । वाणी स्वभार्यां वाग्देवी वर्णात्मिकाञ्च मौनस्य वाग्यमनव्रतस्य मिषेण रणाद्धिनलश्यापसगान्निरुध्य, तस्या उभय्या अपि तदासगमयादिति भाव । किन्तु वेदजड छान्दस विधाता तामुभयीमपि वाणी तस्य नलस्य कण्ठ ग्रीवामालिङ्ग्य मुखमाश्रित्य च रसस्य तृप्ता तद्रागसंवृप्ता मन्यत शृ गारादिरसपुष्टाञ्च । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, पूरणगुणेत्यादिना षष्ठीनिषेधादव शापवादिति केचित् । वक्रां प्रतिकूलकारिणी वक्रोक्त्यलङ्कारयुक्ताञ्च न वेद न वेत्ति विदो लटो वे' ति णलादेश । अशक्यरक्षा स्त्रिय इति भाव । अत्र प्रस्तुतया देवीकथनादप्रस्तुतवर्णात्मकवाणीवृत्तान्तप्रतीते प्रागुक्तरीत्या ध्वनिरेवे त्यनुसन्धेयम् ।

समासविग्रहादि—धर्मस्य विधि धर्मविधि तस्मिन् धर्मविधौ । वेदेन-जड वेदजड, तस्य कण्ठ तत्कण्ठ तम् तत्कठ ।

व्याकरण—सजन्=षञ्ज+शतृ । विधि=वि+धा+कि । रुणद्धि=रुध्+लट्+तिप् । आलिङ्ग्य=आङ्+लिगि+क्त्वा (ल्यप्) वेद=विद+लट्+तिप् ।

विशेष—यहाँ प्रस्तुत वाणी देवी (सरस्वती) के कथन से अप्रस्तुत वर्णात्मक वाणी की प्रतीति हो रही है अत समासोक्ति अलकार है।

पूर्वाभास—लक्ष्मी भी नल का आलिंगन करती थी।

श्रियस्तदालिङ्गनभूर्नभूता व्रतक्षतिः काऽपि पतिव्रतायाः ।
समस्तभूतात्मतया न भूत तद्भर्तुरीर्ष्याकलुषाऽणुनापि ॥ ३१ ॥

अन्वय —पतिव्रताया श्रिय तद्भर्तु समस्तभूतात्मतया तदालिंगनभू काऽपि व्रतक्षति न अभूत् । (अतएव) तद्भर्तु ईर्ष्याकलुषाऽणुना अपि न भूतम् ।

शब्दार्थ —पतिव्रताया श्रिय =पतिव्रता लक्ष्मी का, तद्भर्तु =उनके पति विष्णु के, समस्तभूतात्मतया=समस्त प्राणियों के स्वरूप होने से, तदालिंगनभू

=नल के आलिंगन से होने वाली, काऽपि=कोई भी, व्रतक्षति =व्रत की क्षति, न अभूत्=नहीं हुई, (अतएव) तद्भर्तुं =उनके पति विष्णु को, ईर्ष्याकलुषाणुना= ईर्ष्या के कालुष्य का अणुमात्र भी, न भूतम्=नहीं हुआ।

**अनुवाद**—पतिव्रता लक्ष्मी का उनके पति विष्णु के समस्त प्राणियों के स्वरूप होने से नल के आलिंगन से होने वाली कोई भी व्रत की क्षति नहीं हुई । अतएव उनके पति विष्णु को ईर्ष्या के कालुष्य का अणुमात्र भी नहीं हुआ।

**भावार्थ**—लक्ष्मी ने नल का आलिंगन किया, फिर भी उसके पतिव्रत धर्म की कोई भी क्षति नहीं हुई, क्योंकि विष्णु समस्त प्राणिमय हैं। इस कारण विष्णु को भी किञ्चिमात्र ईर्ष्या की कलुषता नहीं हुई।

**जीवातु संस्कृत टीका**—श्रिय इति । पतिव्रताया श्रिय श्रीदेव्या तद्भर्तुर्विष्णो समस्तभूतात्मतया सर्वभूतात्मकत्वेन नलस्यापि विष्णुरूपत्वेनेत्यर्थ । तदालिंगनभूर्नलश्लेषभवा काऽपि व्रतक्षति पातिव्रतभगो न भूता नाभूत् । अतएव तद्भर्तुर्विष्णोश्च ईर्ष्यया नलनालिंगनभुवा अक्षमया यत्कलुष कालुष्य मन क्षोभ दु खादित्वेन अस्य धर्मधर्मिवचनत्वादत इव क्षीरस्वामी 'शस्तचाथ त्रिषु द्रव्ये पाप पुण्य सुखादिचे' त्यत्र आदिशब्दाच्छ्रेय कलुषशिवमद्रादय इति उभयवचनेषु सजग्राह । तस्याणुनालेशेनापि न भूत नाभावि । नपुसके भावेक्त । अत्रशच्यादिचित्तचाञ्चल्यो-क्तेर्नलसौन्दर्य तात्पर्यानानौचित्यदोष ।

**समासविग्रहादि**—पत्यौ व्रत यस्या सा पतिव्रता तस्या । तस्या भर्ता तस्य तद्भर्तुं । समस्ताश्चते भूता ' आत्मनो भाव आत्मता, समस्तभूतानाम् आत्मता तया समस्तभूतात्मतया । तस्य आलिंगनम् तदालिंगनम्, तदालिंगनात् भवतीति तदालिंगनभू । व्रतस्यक्षति व्रतस्यक्षति । तस्या भर्ता तद्भर्तु । ईर्ष्यया कलुष तस्य अणु तेन ईर्ष्याकलुषाणुना ।

**व्याकरण**—आत्मता=आत्मन्+तल्+टाप् । भू=भू+क्विप् । ईर्ष्या=ईर्ष्य+अप् (भावे)+टाप् । भूतम्=भू+क्त (भाववाच्य)

**विशेष**—इस पद्य मे व्रतभग तथा ईर्ष्या न होने मे विष्णु का सर्व-प्राणिमयत्व कारण है, अत काव्यलिंग अलकार है।

**पूर्वाभास**—पूर्णचन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर नल का मुख है।

**धिक् ! तं विधेः पाणिमजातलज्जं निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम्।**
**मन्ये स विज्ञ. स्मृततन्मुखश्रीः कृतार्धमौज्झद्भवमूर्ध्नि यस्तम्॥३२॥**

अन्वय--स्मृततन्मुखश्री [अपि] पर्वणि य पूर्णम् इन्दु निर्माति तम् अजातलज्ज विधे पाणि धिक् ! यो भवमूर्ध्नि कृतार्धम् तम् औज्झत् स विज्ञ (इति) मन्ये।

शब्दार्थ—स्मृततन्मुखश्री (अपि) नल के मुख की शोभा का स्मरण करके भी, पर्वणि=पूर्णिमा मे, य=जो, पूर्णम्=पूर्ण, इन्दु=चन्द्रमा का, निर्माति=निर्माण करता है, तम्=उस, अजातलज्ज=जिसे लज्जा उत्पन्न नही हुई है एसे, विधे=ब्रह्मा के पाणि=हाथ को, धिक्=धिक्कार हे। योभवमूर्ध्नि=जिसने शिवजी के सिर मे, कृतार्धम्=आधा बनायेगए, तम्=उस चन्द्रमा को, औज्झत्=छोड दिया, स=वह, विज्ञ=बुद्धिमान् है, इति मन्ये=मैं ऐसा मानता हूँ।

अनुवाद—नल के मुख की शोभा का स्मरण करके भी पूर्णिमा जो पूर्ण चन्द्रमा का निर्माण करता है, उस जिसे लज्जा उत्पन्न नहीं हुई है ऐसे ब्रह्मा के हाथ को धिक्कार है। जिसने के सिर मे आधा बनाए गए उस चन्द्रमा को छोड दिया, वह बुद्धिमान है, एसा मैं मानता हूँ।

भावार्थ —ब्रह्मा के उस निर्लज्ज हाथ को धिक्कार है जो नल के मुख की शोभा का स्मरण करके भी पूर्णचन्द्रमा का निर्माण करता है। ब्रह्मा का वही हाथ समझदार है जिसने शिव के सिर में आधा बनाए गए चन्द्रमा को छोड दिया मेरी ऐसी मान्यता है।

जीवातु संस्कृत टीका—धिगिति। अमजात लज्ज निस्त्रप विधे पाणि धिक् य पाणि स्मृतनन्मुखश्रीरपि पर्वणि जानावेक्षवान पर्वेस्मित्यर्थः। पूर्णमिन्दु निर्माति अनार्योति भाव। स विज्ञ धर्मिण इति मन्ये य पाणि स्मृततन्मुखश्री सन् तमिन्दु कृत अर्द्ध एकदेशो यस्य त कृतार्द्धमर्द्धनिर्मितमेव भवमूर्ध्नि हराशिरसि औज्झत्। अतिगौरवं गुणमन्यान्यमिति भाव।

समासविग्रहादि—तस्यमुख, तन्मुख तन्मुखश्री, स्मृतान्मुखश्री येन स स्मृततन्मुखश्री। न जाता अजाता, अजाता लज्जा यस्य स तम् अजातलज्जम्। भवस्यमूर्धा तस्मिन् भवमूर्ध्नि।

व्याकरण—विज्ञ=वि+ज्ञा+क (कर्तरि), औज्झत्=उज्झ्+लङ्।

विशेष—यहा प्रतीप अलकार है। प्रतीप का लक्षण है—

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्
निष्फलत्वाभिधान वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥

अर्थात् लोकप्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना देना अथवा उसकी निष्फलता कर देना प्रतीप अलकार है। यहा चन्द्रमा रूप उपमान मे उपमेयत्व की ना होने से प्रतीप अलकार है।

पूर्वाभास —नल के मुख से पराजय को प्राप्त हुआ चन्द्रमा गुप्त स्थानो द्रता है।

ीयते ह्रीविधुर. स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्न ।
समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥ ३३ ॥

अन्वय—विधु=चन्द्रमा, स्वजैत्र=अपने को जीतने वाले, तस्य मुख=े मुख के विषय में, न मुखात्=हमारे मुख से, श्रुत्वा=सुनकर, ह्रीविधुर )=लज्जा से दुखी होकर, कदापि=कदाचित्, सूरे=सूर्य मे, समुद्रस्य=समुद्र पूरे=प्रवाह मे, कदाचित्=कभी, अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे=आकाश मे घूमते हुए के भीतर, निलीयते=छिप जाता है।

अनुवाद —चन्द्रमा अपने को जीतने वाले उसके (नल के) मुख के ाय मे हमारे मुख से सुनकर लज्जा से दुखी होकर कदाचित् सूर्य मे, कभी समुद्र वाह मे तथा कभी आकाश मे घूमते हुए मेघ के भीतर छिप जाता है।

भावार्थ—यहा चन्द्रमा का सूर्य मे, समुद्र के प्रवाह मे तथा आकाश मे ते हुए मेघ के भीतर छिपने का कारण कवि ने नल के मुख के द्वारा चन्द्रमा जीता जाना बतलाया गया है।

जीवातु सस्कृत टीका—निलीयत इति । विधुश्चन्द्र स्वस्य जैत्र न्नात्यज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्यय । नलस्य मुख नो अस्माक मुखाच्छ्रुत्वालज्जा- रु सन् कदापि सूरे सूर्ये दर्शेष्वित्यर्थं कदापि समुद्रस्य पूरे प्रवाहे तद्रूपत्वात् विरभ्रभ्रमदभ्रगर्भे आकाशे सञ्चरमाणमेघोदरे निलीयते अन्तर्धत्ते, न कदाचिद- स्यानुमुमहत इति भाव । अत्र विधो स्वाभाविकसूर्यादिप्रवेशे पराजयप्रयुक्त- निलीनत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगादगम्या ।

समासविग्रहादि—जयतीति जेतृ, जेतृ एव जैत्रम्, स्वस्य जैत्र तत् स्वजैत्र, ह्रिया विधुर ह्रीविधुर। अभ्रे भ्रमदभ्रम्, अभ्रभ्रमदभ्रस्य गर्भे तस्मिन् अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे।

व्याकरण—ह्री=ह्री+क्विप् (भावे)। निलीयते=नि+लीङ्+लट्+त।

विशेष—इस पद्य में चन्द्रमा के सूर्य आदि में स्वाभाविक प्रवेश में यह कल्पना की गयी है, मानो नल के मुख से पराजित होकर वह छिपता फिरता है। इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

पूर्वाभास—नल के मुख की स्तुति सुनकर ब्रह्मा का नाभिकमल भी बन्द हो जाता है।

संज्ञाप्य न. स्वध्वजभृत्यवर्गान् दैत्याऽरिरत्यब्जजनलास्यनुत्यै।
तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीताद्धातुर्विलज्जं रमते रमायाम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—दैत्याऽरि स्वध्वजभृत्यवर्गान् न अत्यब्जनलास्यनुत्यै संज्ञाप्य तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीतात् धातु विलज्ज रमायां रमते।

शब्दार्थ—दैत्याऽरि=विष्णु स्वध्वजभृत्यवर्गान्=निजध्वज [गरुड] के भृत्यवर्ग, न=हम लोगों को अत्यब्जनलास्यनुत्यै=नल के कमलविजयी मुख की स्तुति के लिए, संज्ञाप्य=संकेत करके, तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीतात्=उससे सङ्कुचित होते हुए नाभिकमल के द्वारा तिरोहित किए गए, धातु=ब्रह्मा से, विलज्ज=लज्जा मिट जाने के कारण, रमाया=लक्ष्मी के साथ रमण करते हैं।

अनुवाद—विष्णु गरुड के भृत्यवर्ग हम लोगों को नल के कमलविजयी मुख की स्तुति के लिए संकेत करके उसे सङ्कुचित होते हुए नाभिकमल के द्वारा तिरोहित किए गए ब्रह्मा से लज्जा मिट जाने के कारण लक्ष्मी के साथ रमण करते हैं।

भावार्थ—विष्णु जब लक्ष्मी के साथ रमण करने के इच्छुक होते हैं तो, उन्हें अपने नाभिकमल में स्थित ब्रह्मा के कारण संकोच होता है। अतः वे हमों को नल के कमलविजयी मुख की स्तुति करने का संकेत करते हैं। फल यह होता है कि विष्णु का नाभिकमल लज्जा के कारण बन्द हो जाता है। नाभिकमल बन्द हो जाने से ब्रह्मा भी तिरोहित हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के तिरोहित हो जाने पर विष्णु लक्ष्मी के साथ रमण करते हैं।

**जीवातु संस्कृत टीका**—संज्ञाप्येति । दैत्यारि विष्णु स्वध्वजस्य गरुडस्य पक्षिराजस्य भृत्यवर्गान्निोऽम्मात् अतिक्रान्तमब्जमत्यब्जमब्ज विजयीत्यर्थं । 'अत्यादय क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयये' ति समास । तस्य नलस्यास्यनुत्यं स्तोत्राय, स्तव स्तोत्र स्तुतिर्नुतिरित्यमर । सज्ञाप्य तत्सद् कुचता तया नुत्या निलिमीनानाभि-सरोजेन पीनात्तिरोहितादधातुर्ब्रह्मणो विलज्ज यथा तथा रमाया रमते । अत्र विष्णोरक्तव्यापारा सम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति ।

**समासविग्रहादि**—दैत्यानाम् अरि दैत्यारि । स्वस्य ध्वज स्वध्वज, मृत्याना वर्गा भृत्यवर्गा तान् स्वध्वजभृत्यवर्गान् । अब्जम अतिक्रान्तम् अत्यब्जम्, अत्यब्ज च तत् नलास्यम् तस्य नुति इति अत्यब्जनलाऽऽस्यनुति, तस्यै अत्य-ब्जनलाऽऽस्य नुत्यै, सकुचच्च तत् नाभिसरोजम् तेन पीन तस्मात् सकुचन्नाभि-सरोजपीतात् । विगतालज्जा यस्मिन् तत् विलज्ज ।

**व्याकरण**—दैत्य =दिति + ण्य, अत्यब्जम् =अति + अब्ज, नुति = नु + क्तिन् । सज्ञाप्य =सम् + ज्ञा + णिच + ल्यप् । सरोजम् =सरस् + जन् + ड । रमते =रम + लट् + त ।

**विशेष**—कमल के बन्द होने और विष्णु के रमण काय मे कोई सबध न होने पर भी सम्बन्ध की कल्पना की जाने से अतिशयोक्ति अलङ्कार है । उप-मान कमल का तिरस्कार होने से प्रतीप अलङ्कार है ।

**पूर्वाभास**—नल के मुख मे बत्तीस विद्यायें थी ।

**रेखाभिरास्ते गणनादिवास्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्त. ।**
**चतुर्दशाऽष्टादश वात्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशस वेधा ॥३५॥**

**अन्वय**—वेधा अस्य अन्त आस्ये द्वात्रिंशता दन्तमयीभि रेखाभि गणनात् अत्र चतुर्दश, अष्टादश च द्वेधा विद्या सन्ति इति शशस इव ।

**शब्दार्थ**—वेधा=ब्रह्मा ने, अस्य=नल के, अन्त =भीतर- आस्ये= मुख मे, द्वात्रिंशता=बत्तीस, दन्तमयीभि =दन्तमयी, रेखाभि =रेखाओ के द्वारा, गणनात्=गणना करने से, अत्र=यहाँ, चतुर्दश=चौदह, अष्टादश च=और अठारह, विद्या सन्ति=विद्यायें हैं, इति शशस इव=ऐसा कहा हो जैसे ।

**अनुवाद**=ब्रह्मा ने नल के भीतर मुख मे बत्तीस दाँतो वाली रेखाओ के द्वारा गणना करने से जैसे ऐसा कहा हो कि यहाँ चौदह और अठारह विद्यायें हैं।

भावार्थ—चार वेद, छह वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र ये चौदह विद्यायें हैं। इनमें आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्वशास्त्र और अर्थशास्त्र ये चार मिलाकर अठारह विद्यायें हैं। यहाँ विद्याओं को चौदह अथवा अठारह मानने में मतभेद दिखलाया गया है। ब्रह्मा ने नल के भीतर जो बत्तीस दाँतों वाली रेखायें बनायी, उनके द्वारा चौदह और अठारह विद्याओं की गणना की गई थी।

जीवातु संस्कृत टीका—रेखाभिरिति। अस्य नलस्य आस्ये दन्तमयीभिः दन्तरूपाभिर्द्वात्रिंशतारेखाभिर्गणनात्संख्यानाच्चतुर्दश चाष्टादश च विद्या द्वेधा अपि अत्र आस्ये सन्ति सम्बन्धन्यायेनेति वेधा धातृरेवेत्युत्प्रेक्षा। अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश। आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेत्यनुक्रमात्। अर्थशास्त्रं परं तस्माद्विद्या ह्यष्टादश स्मृता॥ इति॥

समासविग्रहादि—चतस्रश्च दश च चतुर्दश। अष्टौ च दश च अष्टादश।

व्याकरण—दन्तमयीभिः = दन्त + मयट् + ङीप् + भिस्। द्वेधा = द्वि + धा।

विशेष—यहाँ दाँतों का निषेध कर रेखाओं की स्थापना की गई है अतः अपह्नुति अलङ्कार है। कुछ लोगों के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

पूर्वाभास—नल कामदेव और इन्द्र तथा शेषनाग और बुद्ध से बढ़कर है।

**श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मरास्मरेन्द्रावपि न स्मरामः।**
**वासेन सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्मः खलु शेषबुद्धौ ॥३६॥**

अन्वय—तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ निरीक्ष्य स्मरास्मरेन्द्रौ अपि न स्मरामः। तस्मिन् क्षमयोः सम्यक् वासेन शेषबुद्धौ न दध्मः खलु।

शब्दार्थ—तस्य नरेन्द्रस्य = उस राजा की, श्रियौ = सौन्दर्य और सम्पत्ति, निरीक्ष्य = देखकर, स्मरामरेन्द्रौ = कामदेव और इन्द्र का भी (हम) न स्मरामः = स्मरण नहीं करते हैं। तस्मिन् = उन (नल) में, क्षमयोः = पृथ्वी और क्षमा के, सम्यक् वासेन = भली प्रकार निवास होने से, शेषबुद्धौ = शेषनाग और बुद्ध को, न दध्मः = (हम मन में) धारण नहीं करते हैं।

अनुवाद :—उस राजा का सौंदर्य और सम्पत्ति देखकर कामदेव और इन्द्र का भी हम स्मरण नही करते है। उस नल मे पृथ्वी और क्षमा के भली प्रकार निवास होने से शेषनाग और बुद्ध को हम मन मे धारण नही करते है।

भावार्थ—कामदेव मे केवल सौन्दर्य है उसके पास सम्पत्ति नही। इन्द्र के पास केवल सम्पत्ति है, सौन्दर्य नही। नल मे सौंदर्य और सम्पत्ति दोनो हैं। शेषनाग पर केवल पृथ्वी स्थित है, क्षमा नही। बुद्ध मे केवल क्षमा है, वे पृथ्वी को धारण नही करते हैं। नल दोनो को धारण करते हैं। इस कारण नल को हम स्मरण करते हैं मन से धारण करते हैं, अन्य को नही।

जीवातु सस्कृत टीका—श्रियाविति। तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ सौन्दर्य-सम्पदौ निरीक्ष्य शोभासम्पत्ती पश्यामु लक्ष्मी श्रीरिति शाश्वत। स्मरामरेन्द्रावपि न स्मराम किं च तस्मिन्नरेन्द्रे क्षमयो क्षितिक्षान्त्यो 'क्षितिक्षान्त्यो क्षमे' त्यमर। सम्यग्वासेन निर्बाधस्थित्या शेषबुद्धौ फणपति बुद्धदेवौ चित्ते न दध्म न आराधयाम खलु। अत्र द्वयोरपि श्रियो द्वयोरपि क्षमयो प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेष। एतेन सौन्दर्यादिगुणै स्मरादिभ्योऽप्यधिक इति व्यतिरेको व्यज्यते। श्लेषयया-सख्ययो सङ्कर।

समासविग्रहादि—नराणाम् इन्द्र नरेन्द्र, तस्य, नरेन्द्रस्य। श्रीश्च श्रीश्च श्रियौ ते श्रियौ, अमराणाम् इन्द्र अमरेन्द्र, स्मरश्च अमरेन्द्रश्च तौ स्मरामरेन्द्रौ। क्षमा च क्षमा च क्षमे, तयो क्षमयो, शेषश्च बुद्धश्च तौ शेषबुद्धौ।

व्याकरण—दध्म = धा + लट् + मस्।

विशेष—यहाँ दोनो श्रियो और क्षमाओ का प्रकृत (प्रस्तुत) होने से केवल प्रकृत श्लेष है। इससे यह द्योतित होता है कि नल सौंदर्यादि गुणो मे कामदेव आदि से भी बढकर है, इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है। यथासख्य के साथ इनका सङ्कर है।

पूर्वाभास—नल के घोडे बडे वेगशाली हैं।

**विना पतत्रं विनतातनूजै:, समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः ।**
**मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न लङ्घिता दिक्कतमा तदश्वैः ॥३७॥**

अन्वय—पतत्र विना विनतातनूजै, ईक्षणलक्षणीयै समीरणै, अनणु-प्रमाणै मनोभि तदश्वै कतमा दिक् न लङ्घिता आसीद्॥

शब्दार्थ—पतत्र विना=पंख के बिना, विनतातनूजै=गरुड, ईक्षणलक्षणीयै=नेत्र से देखे जाने वाले, समीरणै=वायु, अनणुप्रमाणै=अणु परिमाण से रहित, मनोभि:=मन, तदश्वै=उसके घोडों के द्वारा, कतमा=कौन सी दिक्=दिशा, न लङ्घिता=लङ्घित नही, आसीत्=थी।

अनुवाद—पङ्ख के बिना गरुड, नेत्र से देखे जाने वाले वायु, अणु परिमाण से रहित मन उसके घोडों के द्वारा कौन सी दिशा लङ्घित नहीं थी।

भावार्थ—वेग में गरुड, वायु और मन ही तीव्र पाये जाते हैं, किन्तु ये क्रमश: पङ्ख से युक्त, नेत्रों से न देखे जाने वाले तथा अणु परिमाण से युक्त हैं। नल के घोडे तीव्रगामी होते हुए पङ्खों से युक्त नेत्रों से देखे जाने वाले तथा महा-परिमाण से युक्त थे एवम् उन्होंने सभी दिशाओं का लघन किया था।

जीवातु संस्कृत टीका—विनेति। पतत्र बिना स्थितैरिति शेष। विनतातनूजै वैनतेयै, अपक्षतार्क्ष्यैरित्यर्थ। ईक्षणलक्षणीयै समीरणैश्चाक्षुषवायुभि अनणुप्रमाणै अणुपरिमाण मन इति तार्किका, तद्विपरीतैर्महापरिमाणैर्मनोभिर्वैनतेयादिसमानवेगैरित्यर्थ। एवंविधै तदश्वै कतमा दिक् न लङ्घिताऽऽसीत्। सर्वापि लङ्घितैवासीदित्यर्थ। अत्राश्वाना विशिष्टवैनतेयादित्वेन निरूपणाद्रूपकालङ्कार।

समासविग्रहादि—विनताया: तनूजा तै विनतातनूजै। ईक्षणाभ्यां लक्षणीया तै ईक्षणलक्षणीयै, अणु प्रमाण येषा तानि अणुप्रमाणानि, न अणुप्रमाणानि तै अनणुप्रमाणै। तस्य अश्वा तदश्व तै तदश्वै।

व्याकरण—तनूजा=तनु+जन्+ड। ईक्षणम्=ईक्ष्+ल्युट्। कतमा=किम्+डतमच् (स्वार्थ)+टाप्।

विशेष—यहाँ अश्वों का विशिष्ट गरुड आदि के रूप में निरूपण है, अत रूपक अलङ्कार है। पक्षादि न होने पर भी गरुडादि का कार्य (शीघ्र गामित्व) यहाँ सम्पन्न हो रहा है, अत विभावना अलङ्कार है।

पूर्वाभास—नल के द्वारा सुभिक्ष होना है।

**सग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्त्रैर्नदीमातृकता गतासु।**
**तद्वाणधारापवनाशनानां राजव्रजीयैरसुभिस्सुभिक्षम् ॥३८॥**

अन्वय—अरीणाम् अस्त्रै सग्रामभूमीषु नदीमातृकताम् गतासु सतीषु तद्वाणधारापवनाशनानाम् राजव्रजीयै असुभि सुभिक्षम् भवति॥

शब्दार्थ —अरीणाम्=शत्रुओ के, अस्रैः=रुधिरो से सग्राम-भूमीषु=सग्रामभूमियो के, नदीमातृकाम्=नदीमातृकपने को, गतासु=प्राप्त (सतीषु=हो जाने पर,) तद्बाणधारापवनाशनाना=उसकी बाण परम्परा रूपी सर्पो के लिए, राजव्रजीयैः=राजाओ के समूह के, असुभि=प्राणो के रूप मे, सुभिक्षम्=सुभिक्ष, भवति=होता है।

अनुवाद —शत्रुओं के रुधिरो से सग्रामभूमियो के नदीमातृकपने का प्राप्त हो जाने पर उसकी बाण परम्परा रूपी सर्पो के लिए राजाओ के समूह के प्राणो के रूप मे सुभिक्ष होना है।

भावार्थ — युद्ध म नल ने बहुत से शत्रु मार डाले थे। उनके रुधिर से भूमि नदीमातृकपने को प्राप्त हो गई थी। राजा नल के बाण रूपी सर्पो के लिए शत्रु राजाओ की प्राणवायु से सुभिक्ष होना है अर्थात् यथेष्ट भोजन मिलता है।

जीवातु सस्कृत टीका —सग्रामेति। अरीणामस्रैरसृग्भिर्नद्येव माता यासा तास्तासा भावस्तत्ता नदीमातृकता नद्यम्बुसम्पन्नसस्यादयता, देशो नद्यम्बु-वृष्टय म्बुसम्पन्नव्रीहिपालित। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रममित्यमर। 'नद्यृतश्चे' ति कप,' त्वतलोर्गुणवचनस्य' ति पुवद्भाव। ता गतासु सग्रामभूमीषु तस्य नलस्य बाणधारा बाणपरम्परास्ता एव पवनाशनास्तेषा राजव्रजीयैः राज-सघसम्बन्धीभि 'वृद्धाच्छ'। असुभि प्राणवायुभि सुभिक्षम्। भिक्षाणा समृद्धिर्भवति समृद्धाव्ययीभाव। नदीमातृकदेशेषु सुभिक्ष भवतीतिभाव। रूपकालङ्कार।

समासविग्रहादि—सग्रामस्य भूम्य तासु सग्रामभूमीषु। बाणाना धारा बाणधारा तस्य बाणधारा, तद्बाणधारा, ता एव पवनाऽशना तेषाम् इति तद्बाणपवनाऽशनाना। राज्ञा व्रजा राजव्रजा, राजव्रजानाम् इमे राजव्रजीया तैं राजव्रजीयैः। भिक्षाणा समृद्धि सुभिक्ष।

व्याकरण—राजव्रजीयैः=राजव्रज+छ, छ को ईय आदेश। अशन = अश+ल्यु (कर्तरि)।

विशेष—यहाँ सग्राम भूमियो को नदीमातृकदेश, नल के बाणो को सप तथा शत्रु राजाओ के प्राणो को खाद्य पदार्थ बतलाया गया है, अत रूपक अलङ्कार है।

कृषि योग्य भूमि दो प्रकार की होती है—(१) देवमातृक-जहाँ की उपज वर्षा के पानी पर निर्भर होती है (२) नदीमातृक-जहाँ नदी, नहरो, कुओ आदि से सिचाई होती है।

पूर्वाभास —युद्ध मे किसी से पराजय को न प्राप्त नल का यश समस्त दिशाओ मे फैला है।

पूर्वाभास—नल असंख्य गुणों से युक्त हैं :

**यदि त्रिलोकीगणनापरा स्यात्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात् ।**
**पारेपरार्द्धं गणितं यदि स्याद् गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात् ॥४०॥**

अन्वय—त्रिलोकीगणनापरा स्यात् यदि तस्याः आयुषः समाप्तिः न स्यात् यदि, पारेपरार्द्धं गणितं स्यात् यदि (तदा) सः अपि गणेयनिःशेष गुण स्यात् ।

शब्दार्थ—त्रिलोकी=तीनों लोक, गणनापरा=गणना में तत्पर, स्यात् यदि=यदि हो, तस्याः आयुषः=तीनों लोकों की आयु की समाप्तिः=समाप्ति, न स्यात् यदि=यदि न हो, पारेपरार्द्धं=परार्द्ध संख्या में भी अधिक, गणितं=गणित, स्यात् यदि=यदि हो (तदा=तब) सः अपि=नल भी, गणेय निःशेष-गुण=गणना के योग्य समस्त गुणों वाला, स्यात्=हो जाये ।

अनुवाद—यदि तीनों लोक गणना में तत्पर हों, यदि तीनों लोकों की आयु की समाप्ति न हो, यदि परार्द्ध संख्या से भी अधिक गणित हो, तब वह नल भी गिनने के योग्य समस्त गुणों वाला हो जाय ।

भावार्थ—नल में इतने अधिक गुण हैं कि उनका गिनना असम्भव है। वे तभी गिन जा सकते हैं जब तीनों लोक उन्हें गिनने में तत्पर हों जाँय तथा तीनों लोकों के प्राणियों की आयु कभी समाप्त न हो तथा गणित की संख्या भी परार्द्ध से अधिक हो जाय ।

जीवातु संस्कृत टीका—यदीति । किं बहुना, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी, तद्धितार्थेत्यादिना समाहारे द्विगुः, अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां स्त्रियां भाष्यते द्विगोरिति ङीप् । गणनापरा नलगुणसंख्याने तत्परा स्याद्यदि तस्याः त्रिलोक्याः आयुषः समाप्तिर्नस्याद्यदि अमरत्वं यदि स्यादित्यर्थः । परार्द्धस्य चरमसंख्यायाः परे पारेपरार्द्धं, 'पारे मध्ये षष्ट्या वे' ति अव्ययीभावः । गणितं स्यात्परार्द्धात्परतोऽपि यदि संख्या स्यादित्यर्थः । तदा स नलोऽपि गणेयाः गणितुं शक्याः निःशेषानिखिलाः गुणाः यस्य सः स्यात्, गणेय इति औणादिक एय प्रत्ययः । अत्र गुणानामगणेयत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ।

समासविग्रहादि—त्रिलोकी=त्रयाणां लोकानां समाहारः गणनायाः परा गणनापरा, परार्द्धस्य पारे पारेपरार्द्धं ।

व्याकरण—गणना=गण्+णिच्+युच्+टाप् ।

विशेष —इस पद्य में गुणों का गणना के योग्यपने से सम्बन्ध का अभाव होने पर भी सम्बन्ध का कथन किये जाने के कारण अतिशयोक्ति है।

वृद्ध लोगों के अनुसार यहाँ सम्भावना अलङ्कार है।

पूर्वाभास —हंस का नल के अन्त पुर से भी परिचय है।

अवतारितद्वारतया तिरश्चामन्त पुरे तस्य निविश्य राज्ञ ।
गतेषु रम्येष्वधिकं विशेषमध्यापयाम परमाणुमध्या ॥ ४१ ॥

अन्वय —तिरश्चाम अवारितद्वारतया तस्य राज्ञ अन्त पुरे निविश्य परमाणुमध्या रम्येषु गतेषु अधिकम् विशेषम् अध्यापयाम ।

शब्दार्थ—तिरश्चाम=पक्षियों के लिए अवारितद्वारतया=प्रवेश द्वार निषिद्ध न होने से, तस्य राज्ञ=उन राजा के अन्त पुर=अन्त पुर मे, निविश्य-प्रवेश करके, परमाणुमध्या=अत्यन्त कृश कमर वाली स्त्रियों को, रम्येषु गतेषु-मनोहर गतियों मे, अधिक विशेष=अपूर्व भेद को, (वयम=हम), अध्याप-याम=सिखाते है।

अनुवाद=पक्षियों के लिए प्रवेश द्वार निषिद्ध न होने से उस राजा के अन्त पुर मे प्रवेश करके अत्यन्त पतली कमर वाली स्त्रियों को हम मनोहर गतियों मे अपूर्व भेद को सिखाते है।

शब्दार्थ—राजा नल के अन्त द्वार का प्रवेश द्वार हंसों के लिए निषिद्ध नहीं है अर्थात् हम बेरोकटोक राजा नल के अन्त पुर मे जा सकते है। वहाँ जाकर हम इस राजा की अत्यन्त पतली कमर वाली स्त्रियों को सुन्दर गमन मे और भी अधिक विशेषता को सिखाते है।

जीवातु संस्कृत टीका=एवं नलगुणानुवर्णं गूढाभिसन्धिनाऽऽत्मन-स्तदन्त पुरेऽपि परिचयं दर्शयति—अवतारितेत्यादि। तिरश्चां पक्षिणामवारित-द्वारतया अप्रतिषिद्धप्रवेशतयेत्यर्थ। तस्य राज्ञो नलस्य अन्त पुरे निविश्य प्रवि-श्याय परमाणुमध्याभिरङ्गना रम्येषु गतेषु अधिकमपूर्वं विशेषं भेदमध्यापयाम अभ्यासयाम। दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम्।

समासविग्रहादि=न वारितम् अवारितम्, अवारितं द्वारं येषां ते अवारितद्वारा, तेषां भाव तत्ता, तया अवारितद्वारतया। परमश्चासौ अणु परमाणु, परमाणुरिव मध्यो यासां ता परमाणुमध्या।

व्याकरण—निविश्य=नि+विश्+क्त्वा (ल्यप्)। गत =गम्+क्त अध्यापयाम =अधि+इ+णिच्+लिट।

विशेष—परमाणुमध्या मे लुप्तोपमा है।

पूर्वाभास—हम नल की अन्त पुरिकाओ को सभोगादि की गुप्त कथायें सुनाकर आनन्दित करते हैं।

**पीयूषधारानधराभिरन्तस्तासां रसोदन्वति मज्जयाम ।**
**रम्भादिसौभाग्यरह. कथाभि काव्येन काव्य सृजताद्दताभि ।।४२।।**

अन्वय—पीयूषधाराऽनधराभि काव्य सृजता काव्येन आदृताभि रम्भाऽऽदिसौभाग्यरह कथाभि तासाम् अन्त रसोदन्वति मज्जयाम ।

शब्दार्थ—पीयूषधाराऽनधराभि =अमृत की धारा के समान, काव्य= काव्य को, सृजता=रचना करते हुए, काव्येन=शुक्राचार्य के द्वारा, आदृताभि = मानित, रम्भादिसौभाग्यरह कथाभि =रम्भादि के सौभाग्य की रहस्य कथाओ मे, तासाम्=उनके (नल की अन्त पुरिकाओ के) अन्त =अन्तकरण को रसोदन्वति=शृङ्गार रस के समुद्र मे, वयम्=(हम लोग) मज्जयाम =स्नान करा देते हैं।

अनुवाद—अमृत की धारा के समान, काव्य की रचना करते हुए शुक्राचार्य के द्वारा मानित, रम्भादि के सौभाग्य की रहस्य कथाओ मे उनकी स्त्रियो के अन्त करण को शृङ्गाररस के समुद्र मे हम लोग स्नान करा देते है।

भावार्थ—हम हम लोग काव्य की रचना करते हुए शुक्राचार्य के द्वारा जिनका सम्मान किया जाता है ऐसी रम्भा आदि अप्सराओं के प्रियतम प्रेम की रहस्य कथायें सुनाकर राजा नल के अत पुर की स्त्रियो को आनद प्रदान करते है।

जीवातु संस्कृत टीका—पीयूषेति। किं च पीयूषधाराभ्य अनधरा-भिरन्यूनाभिरमृतसमानाभि काव्य सृजता स्वय प्रबन्धकर्त्रा कवेरपत्य पुमान काव्यस्तेन, 'शुक्रो दैत्यगुरु, काव्य' इत्यमर। 'कुर्वादिभ्योण्य' इति ण्यप्रत्यय। आदृताभिस्तस्यापि विस्मयकरीभिरित्यर्थ। रम्भादीना दिव्यस्त्रीणा सौभाग्य पति-वाल्लभ्य तत्प्रमुखाभि रह कथाभीरहस्यवृत्तान्तवर्णनाभि स्तासा नलान्त पुर-स्त्रीणामन्तकरणरसोदन्वति शृङ्गार रससागर मज्जयाम अवगाहयाम ।

समासविग्रहादि—नअधरा अनधरा, पीयूषस्य धारा पीयूषधारा, ताभ्य अनधरा ताभि इति पीयूषधाराऽनधराभि । कवेर्भाव कर्म वा तत्काव्य । कवेरपत्य पुमान् काव्य तेन, रम्भा आदिर्यासा ता रम्भादय तासा सौभाग्यम् तस्य रह कथा ताभि रम्भाऽऽदिसौभाग्यरह कथाभि ।

व्याकरण—सृजता=सृज+लट (शतृ)+टा । आदन्ताभि=आङ+दृन्+क्त+भिस् । मज्जयाम=मस्जो+णिच्+लट्+मस् । सौभाग्यम्=सुभगा+ष्यञ पुंवद्भाव । उदन्वान्=उदक+मतुप् ।

विशेष—पीयूषधाराऽनधराभि मे उपमा तथा रसोदन्वति मे रूपक है । धारा धरा और काव्य, काव्य मे अनुप्रास अलङ्कार है ।

पूर्वाभास—इस नल के अन्त पुर की समस्त स्त्रियो का विश्वास-पात्र है ।

काभिर्न तत्राऽभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेप वणिक् क्रियेऽहम् ।
जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपि तिर्यक् कश्चित्तिरश्चस्त्रपते न तेन ॥

अन्वय—यत् तिर्यक् कुत अपि न जिह्रेति एव । तिरश्च अपि कश्चिद् न त्रपते, तेन तत्र काभि अहम् अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् न क्रिये ।

शब्दार्थ—यत्=जिस कारण से, तिर्यक्=पक्षी, कुत अपि=किसी से भी, न जिह्रेति=लज्जा नही करता है, तिरश्च अपि=पक्षी से भी, तेन=इस कारण, तत्र=नल के अन्त पुर मे, काभि अहम्=कौन स्त्रियाँ मुझे, अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक्=नयी कामाज्ञा का विश्वासपूर्वक धरोहर रखने वाला वणिक् न क्रिये—नही बनाती है ।

अनुवाद—जिस कारण से पक्षी भी किसी से लज्जा नही करता है, पक्षी से भी कोई लज्जा नही करता है, इस कारण नल के अन्त पुर मे कौन स्त्रियाँ मुझे नयी कामाज्ञा का विश्वासपूर्वक धरोहर रखने वाला वणिक् नही बनाती है ।

भावार्थ—नल के अन्त पुर की स्त्रियाँ अपने काम विषयक वृत्तान्त का इस से बतलाती है, क्योकि पक्षी किसी से लज्जा नहीं करता है, अत पक्षी से भी कोई लज्जा नही करता है ।

जीवातु संस्कृत टीका=कामिरिति। किञ्चयस्मात् तिर्यक् पक्षी कुतोऽपि जनान्न जिह्नेति न लज्जत एव ही लज्जायामिति धातोर्लट् 'श्लावि' ति द्विर्भाव। तिरश्चोऽपि कश्चिज्जनो न त्रपते न लज्जते तत् तस्मात् तन्नान्त पुरे कामिनीनिरहमभिनवा अपूर्वा स्मरागा परिरक्षितुं कर्त्ता इति सर्वो विश्वासनिक्षेपो विश्वासेन गोप्यर्थ। तस्य वणिक् गोप्ता न किं न कुत्सोऽस्मि ? सर्वोऽस्म्यहमेव विश्रम्भकथापात्रमस्मीत्यर्थ।



समासविग्रहादि—अभिनवा चासौ स्मराज्ञा, अभिनवस्मराज्ञा, विश्वासस्य निक्षेप विश्वासनिक्षेप, तस्य वणिक् इति- अभिनवस्मराज्ञाविश्वास-निक्षेपवणिक्।

व्याकरण—नियक्=निरम्—अन्च+क्विन्+सु। कृत=क्रिम्+उ नि (नम्)। जिह्नेति=ह्री+लट्=तिप्। नपते=त्रपूष+लट्+त। क्रिय-=कृ+लट्+इट्+(कर्मणि)।

विशेष—अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेप वणिक मे रूपक अलङ्कार है। पक्षियों से कोई लज्जा नहीं करता है क्योंकि पक्षी किसी न लज्जा नहीं करते है, इसमे काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हंस कहता है कि मैं किसी की बात किसी दूसरे से नहीं कहता हूँ।

**वार्ता च नाऽसत्यपि सान्यमेति योगादरन्ध्रेहृदि या निरुन्धे।**
**विरञ्चिनानाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्ण ॥ ४४ ॥**

अन्वय—अपि (च) विरञ्चिनानाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्ण अहम् याम् (वार्ताम्) अरन्ध्रे हृदि योगात् निरुन्धे, सा वार्ता असती अपि अन्य न एति।

शब्दार्थ—अपि [च]=दूसरी बात यह है कि, विरञ्चिनानाननवाद-धौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्ण=ब्रह्मा के अनेक मुखों द्वारा किए गए प्रवचन से स्पष्ट हुए समाधिशास्त्र के श्रवण से परिपूर्ण हुए कानों वाला, अहम्=मैं याम्-जिस, (वार्ताम्=बात को) अरन्ध्रे=छिद्र रहित, हृदि=हृदय में, योगात्=ध्यानपूर्वक, निरुन्धे=रोकता हूँ सा वार्ता=वह बात, असती अपि=झूठ होने पर भी, अन्य=दूसरे तक, न एति=नहीं पहुचती है।

अनुवाद —दूसरी बात यह है कि ब्रह्मा के अनेक मुखो द्वारा किये गये प्रवचन से स्पष्ट हुए समाधिशास्त्र के श्रवण से परिपूर्ण हुए कानों वाला मैं जिस बात को छिद्र रहित हृदय मे ध्यानपूर्वक रोकता हूँ, वह बात छूटी होने पर भी दूसरे तक नही पहुँचती है।

भावार्थ—हंस कहता है कि ब्रह्मा ने अपने मुखो से समाधिशास्त्र का प्रवचन किया है। उन प्रवचनों को सुनने से मेरे कान परिपूर्ण है। अत समाधि के अभ्यास से जिस बात को मैं अपने छिद्र रहित हृदय मे रोकता हूँ। वह बात दूसरे तक नही पहुँचती है, भले ही वह झूठी क्यों न हो। अर्थात् अपने मन की बात तुम मुझसे कह सकती हो। मैं उसे किसी पर प्रकट नहीं करूँगा।

जीवातु संस्कृत टीका—अथ स्वस्य एवविधविश्वासहेतुत्वमाहवार्त्तेति। विरञ्चेर्ब्रह्मणो नानाननैर्बहुमुखैर्वादेन व्याख्यानेन धौतस्य शोधितस्य समाधिशास्त्रस्य सयमविद्याया श्रुत्या श्रवणेन पूर्णकर्ण चतुर्मुखाभ्यस्तवाङ्नियमनविद्य इत्यर्थ। अहमिति शेष योगात् अरन्ध्रे निरवकाशे पूर्णे हृदि हृदय या वार्ता निरुन्धे, सा वार्त्ता लोकवार्त्ता विप्लुतरहस्यवार्त्तेतिभाव असत्यपि विनाशाभ कथित्वापि, विप्लुत सतीति भाव असत्यपि अभ्युपगतान्तर नैति न गच्छति। यथा सुसती दुश्चरी नीरन्ध्रस्थाने निरुद्धानाप्येति तदादिति भाव। अनाप्तमासां विश्वास्य इति पूर्वेणान्वय। अत्र वार्त्तानिरोधस्य विरञ्चीत्यादिपदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्ग, भेद।

समासविग्रहादि—विरञ्चे नानाऽऽननानि तैः वाद इति विरञ्चिनानननवाद, तेन धौतम्, तच्च तत् समाधिशास्त्रम् तस्य श्रुति, पूर्णे कर्णौ यस्य स पूर्णकर्ण, विरञ्चिननानाऽऽनन वादधौतसमाधिशास्त्र श्रुत्या पूर्णकर्ण इति विरञ्चिनाऽऽनन वादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्ण। अविद्यमान रन्ध्र यस्य तत्, तस्मिन् अरन्ध्रे।

व्याकरण—धौत=धाव+क्त [कर्मणि]। समाधि=सम्+आ+धा+कि। निरुन्धे=रुध+लट्+इट्।

विशेष—हंस न ब्रह्मा से योगशास्त्र सीखा है, अत वह किसी बात को हृदय म छिपाकर रखने मे समर्थ है, इस प्रकार पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

पूर्वाभास—नल से प्राप्त आनन्द का उपमान कोई दूसरी ही स्त्री बनेगी।

**नलाश्रयेण त्रिदिवोपभोगं तवानवाप्यं लभते बतान्या ।**
**कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवं दुर्लभमम्बुजिन्याः ॥४५॥**

अन्वय—तव अनवाप्यम् त्रिदिवोपभोगम् अम्बुजिन्या दुर्लभम्ज्योत्स्नोत्सवम् इन्दुपरिग्रहेण कुमुद्वती इव नलाश्रयेण अन्य लभते बत।

शब्दार्थ—तव=तुम्हारे द्वारा, अनवाप्यम्=न प्राप्त करने योग्य, त्रिदिवोपभोगम्=स्वर्ग का उपभोग, अम्बुजिन्या दुलमम्=कमलिनी को दुर्लभ, ज्योत्स्नोत्सवम्=चाँदनी का उत्सव, इन्दुपरिग्रहण=चन्द्रमा को स्वीकार करने से, कुमुद्वीतइव=कुमुदनी के समान, नलाश्रयेण=नल का आश्रय करने से, अन्य—दूसरी स्त्री, लभते=प्राप्त करेगी, बत=खेद की बात है।

अनुवाद—तुम्हारे द्वारा न प्राप्त करने योग्य स्वग का उपभोग कमलिनी को दुलम चाँदनी का उत्सव चन्द्रमा को स्वीकार करने से कुमुदिनी के समान नल का आश्रय करने से दूसरी स्त्री प्राप्त करेगी यह खेद की बात है।

भावार्थ —जिस प्रकार कमलिनी को न मिलने वाला चाँदनी का उत्सव, चन्द्रमा को स्वीकार करने से कुमुदिनी को मिलता है। उसी प्रकार तुम्हे न प्राप्त होने वाला स्वर्गीय आनन्द नल को अपनाने से दूसरी ही स्त्री प्राप्त करेगी, यह खेद की बात है।

जीवातु सस्कृत टीका —अथ श्लोकद्वयेन अग्या नलानुरागमुद्दीपयति—नलेत्यादि। तवानवाप्य नलपरिग्रहाभावात्त्वया दुराप, 'कृत्यानां कर्तरि वे' ति षष्ठी तृतीयार्थे। त्रिदिव स्वर्ग पृषोदरादित्वात् साधु तस्य उपभोग तारग्भोगमित्यथ। तस्येन्द्रसदृशैश्वयत्वादिति भाव। अम्बुजिन्या दुर्लभमिन्दुपरिग्रहाभावात्तया दुराप ज्योत्स्नोत्सव चन्द्रिकाभोगम् इन्दो कर्त्तुं परिग्रहेण कुमुदा यस्या सन्तीति कुमुदनीव, 'कुमुदनड वेतसेभ्योड्मतुप्, 'मादुपधायाश्चे' त्यादिना मकारस्य वकार। नलस्य कर्त्तुराश्रयेण तत्स्वीकरणेण अन्या लभते, बतेति खेदे। ईदृग्भोगोपभिणी त्वबुद्धिमान्द्यात् न शोचसि इति भाव।

समासविग्रहादि—त्रिदिवस्य उपभोग तम् त्रिदिवोपभोग, ज्योत्स्नाया उत्सव तम् ज्योत्स्नोत्सवम, इन्दो परिग्रह तेन इन्दुपरिग्रहेण। कुमुदानि सन्ति यस्या सा कुमुद्वती। नलस्य आश्रय नलाश्रय तेन नलाश्रयेण।

व्याकरण —दुर्लभम्=दुर्+लभ+खल्+अम्। कुमुद्वती=कुमुद+ड्मतुप् म को व+ङीप्।

विशेष—इस पद्य में उपमा अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती को नल की प्राप्ति का उपाय करना चाहिये।

**तन्नैषधाऽनूढतया दुराप शर्म त्वयाऽस्मत्कृतचाटुजन्म ।**
**रसालवल्ल्या मधुपाऽनुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव ॥४६॥**

अन्वय—तत् अस्मत्कृतचाटुजन्म शर्म त्वया अप्राप्तवसन्तया रसालवल्ल्या मधुपाऽनुविद्धं सौभाग्यम् इव नैषधाऽनूढतयादुरापम् ॥

शब्दार्थ—तत्=अत अस्मत्कृतचाटुजन्म=हमारी मीठी मीठी बातो से उत्पन्न होने वाला, शर्म=सुख, त्वया=तुम्हारे द्वारा, अप्राप्तवसन्तया=वसन्त ऋतु को प्राप्त किए बिना, रसालवल्ल्या=आमों की श्रेणी से, मधुपाऽनुविद्धं=भौरों द्वारा उत्पन्न किए गए, सौभाग्यम् इव=सौभाग्य के समान, नैषधानूढतया=नल से विवाह न करने से, दुरापम्=कठिनाई से प्राप्त करने योग्य है।

अनुवाद—अत हमारी मीठी मीठी बातो से उत्पन्न होने वाला सुख तुम्हारे द्वारा वसन्त ऋतु को प्राप्त किए बिना आमों की श्रेणी से भौरों द्वारा उत्पन्न किए गए सौभाग्य के समान नल से विवाह न करने से कठिनाई से प्राप्त करने योग्य है।

भावार्थ—जिस तरह वसन्त ऋतु को प्राप्त किए बिना आमों की पंक्ति का भौरों द्वारा किया हुआ सुख प्राप्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार दमयन्ती भी नल के साथ विवाह किए बिना हसों की मीठी मीठी बातों से उत्पन्न सुख नहीं प्राप्त कर सकती।

जीवातु संस्कृत टीका—तदिति। किञ्च तत्प्रसिद्धमस्माभि कृतेभ्य प्रयुक्तेभ्य चाटुभ्य प्रियवाक्येभ्यो जन्म तस्य तत्जन्मेत्यर्थ। चाटुग्रहण पूर्वोक्तनियमनवीजनादुरूपण, शर्म सुख त्वया अप्राप्तो वसन्तो यया तया वसन्तानधिष्ठितपैरवर्य। रसालवल्ल्या सहकारश्रेण्या मधुपानविद्धं सौभाग्य रामणीयकमिव नैषधेन नलेन अनूढतया अपरिणीतत्वेन हेतुना दुरापतम्मात्तो नलपरिग्रहाय यत्न कार्य इति भाव।

समासविग्रहादि—अस्माभि कृतानि अस्मत्कृतानि च तानि चाटूनि तेभ्यो जन्म यस्य तत् अस्मत्कृतचाटुजम। अप्राप्तो वसन्तो यया सा अप्राप्तवसन्ता तया अप्राप्तवसन्तया। रसानां वल्ली रसालवल्ली तया रसालवल्ल्या। मधु पिबन्तीति मधुपा मधुपैं अनुविद्धम् मधुपाऽनुविद्धम्। निषधानामय नैषध,

अनूढाया भाव अनूढता, नैषधेन अनूढतया तया नैषधाऽनूढतया। दु खेन आप्तु शक्य दुराप ।

व्याकरण —ऊढ=वह्+क्त (कर्मणि), दुराप=दुर्+आप्+खल्।

विशेष—इस पद्य मे आम्रश्रेणी उपमान, दमयन्ती उपमेय, इवशाचक शब्द तथा दुष्प्राप्यत्व साधारणधर्म है, अत पूर्णोपमा अलङ्कार है।

पूर्वाभास —हस को विश्वास है कि दमयन्ती नल को ही प्राप्त होगी

**तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्त दृष्ट विधे केन मन प्रविश्य ।**
**अजातपाणिग्रहणाऽसि तावद्रूपस्वरूपातिशयाश्रयश्च ॥ ४७ ॥**

अन्वय—वा तस्य एव हस्त कि न यास्यसि ? केन विधे मन प्रविश्य दृष्टम् ? अजातपाणिग्रहणा असि रूपस्वरूपाऽतिशयाऽऽश्रयाश्च असि ।

शब्दार्थ —वा=अथवा, तस्य एव=नल के ही, हस्त=हाथ मे, कि न=क्यो नही, यास्यसि=जाओगी, केन=किसने, विधे=ब्रह्मा के मन प्रविश्य=मन मे प्रवेशकर, दृष्टम् देखा है। अजातपाणिग्रहणा असि=तुम्हारा अभी विवाह नही हुआ है, रूपस्वरूपाऽऽश्रयश्च=रूप और शील के प्रकर्ष की आश्रय भी, असि=हो ।

अनुवाद—अथवा नल के ही हाथ मे क्यो नही जाओगी ? किसने ब्रह्मा के मन मे प्रवेशकर देखा है ? तुम्हारा अभी विवाह भी नही हुआ है और तुम रूप और शील के प्रकर्ष की आश्रय भी हो।

भावार्थ —हस को कोई कारण नही दिखाई देता, जिसस कि दमयन्ती नल को प्राप्त न हो सके, क्योकि दमयन्ती का अभी विवाह भी नही हुआ है और उसमे रूप और शील की अतिशयता भी है।

जीवातु सस्कृत टीका —अथ पुनरस्या नलप्राप्त्याशा जनयन्नाह तस्येत्यादि। यद्वा तस्य नलस्यैव हस्त कि न यास्यसि ? यास्यस्येवेत्यर्थ । केन विधेर्मन एव प्रविश्य दृष्ट, विध्यानुकूल्यमपि अस्माभिर्ज्ञातमिति भाव कुतस्तावदयापि अजातपाणिग्रहणा अकृतविवाहा असि, तवाय विवाहविलम्बोऽपि नलपाणिग्रहणार्थमेव कि न स्यादिति भाव रूप सौन्दर्य स्वरूप स्वभाव शीलमिति यावत् । तयोरतिशय प्रकर्षस्तस्याश्रयश्चासि योग्यगुणाश्रयत्वाच्च तदन्यमेव गमिष्यसीति भाव ।

समासविग्रहादि—न जातम् अजातम् पाणिग्रहणम् पाणिग्रहणम्, अजात पाणिग्रहणं यस्या सा अजातपाणिग्रहणा। रूप च स्वरूप रूपस्वरूपे तयो अतिशय तस्य आ...य रूपस्वरूपातिशयाऽऽश्रय।

व्याकरण—साम्वृत्ति —वृ=वृट्+क्विप्।

विशेष—इस पद्य में नल के साथ दमयन्ती के विवाह की सम्भावना का हेतु बतलाया गया है अत काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

पूर्वाभास—ब्रह्मा निश्चित ही नल और दमयन्ती का सम्बन्ध करेगा।

**निशा शशाङ्क शिवया गिरीश श्रिया हरिं योजयत प्रतीत।**
**विधेरपि स्वारसिक. प्रयास परस्पर योग्यसमागमाय ॥ ४८ ॥**

अन्वय—निशा शशाङ्क, शिवया गिरीश, श्रिया हरिं योजयत विधे अपि स्वारसिक प्रयास परस्परम् योग्यसमागमाय प्रतीत (अस्ति)।

शब्दार्थ —निशा=रात्रि के साथ, शशाङ्क=चन्द्रमा को, शिवया=पार्वती के साथ, गिरीश=शिव को, श्रिया=लक्ष्मी के साथ हरिं=विष्णु को, योजयत=मिलाने वाले, विधे अपि=ब्रह्मा का भी स्वारसिक=स्वत प्रवृत्त प्रयास=प्रयत्न परस्परम्=परस्पर में, योग्यसमागमाय=योग्यों के समागम के लिए, प्रतीत (अस्ति)=प्रसिद्ध है।

अनुवाद —रात्रि के साथ चन्द्रमा को, पार्वती के साथ शिव को तथा लक्ष्मी के साथ विष्णु को मिलाने वाले ब्रह्मा का भी स्वत प्रवृत्त प्रयत्न परस्पर में योग्यों के समागम के लिए प्रसिद्ध है।

भावार्थ—जिस प्रकार ब्रह्मा ने रात्रि के साथ चन्द्रमा को, पार्वती के साथ शिव को तथा लक्ष्मी के साथ विष्णु को मिलाया, उसी प्रकार वे नल और और दमयन्ती को मिलाने में भी स्वत प्रवृत्त होंगे क्योंकि ब्रह्मा परस्पर योग्य व्यक्तियों का सम्बन्ध कराने में निपुण है।

जीवातु संस्कृत टीका—साम्य विधिमकरपरत्तु दुर्गम दृश्यन आह्निनिनि। निशा निनया पर्तिनं त्यादिना निदादेश। शशाङ्कम्, शिवया गौर्या गिरीश शिव, श्रिया लक्ष्म्या हरिं च योजयतो विधे प्रयासा यत्नोऽपि परस्पर योग्यसमागमाय योग्यसङ्गमनार्थमेव स्वारसिक स्वरसप्रवृत्त प्रतीत प्रसिद्ध गात। निशाशशाङ्कादिष्टान्तादिपि मत्कल्पोऽपि गुणेय इति भाव।

समासविग्रहादि—शश अङ्क यस्य स तम् शशाङ्कम्। योजयतीति योजयन् तस्य योजयत । योग्या च योग्याश्च योग्यौ योग्ययो समागम योग्यसमागम तस्मै योग्यसमागमाय।

व्याकरण—योजयत =युज्+णिच्+लट्+ङ स। स्वारसिक =स्वरस+ठक्।

विशेष—इस पद्य मे सम अलङ्कार है। योग्य व्यक्ति की जहाँ उसके अनुरूप प्रशसा की जाती है, वहा सम अलङ्कार होता है?

पूर्वाभास—हस की दृष्टि मे दमयन्ती नल से भिन्न पुरुष से सम्बन्ध के योग्य नही है।

**वेलातिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण।**
**सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ॥४६॥**

अन्वय—वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी (त्वम्) नलेतरण योगयोग्या न असि। (तथाहि) मृद्वी मल्लीमाला भृशकर्कशेन दर्भगुणेन न सन्दर्भ्यते ॥

शब्दार्थ—वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी=स्त्रियो के योग्य गुण रूप समुद्र की प्रवाह सरीखी (त्वम्=तुम) नलेतरेण=नल से भिन्न पुरुष से, योगयोग्या=सम्बन्ध के योग्य, न असि=नही हो। (तथाहि=क्योंकि) मृद्वी=मृदु मल्ली-माला=चमेली की माला, भृशकर्कशेन=अत्यधिक कठोर, दर्भगुणेन=कुश के बने डोरे से, न सदर्भ्यते=नही गूँथी जाती है।

अनुवाद=स्त्रियो के योग्य गुण रूप समुद्र की प्रवाह सरीखी तुम नल से भिन्न पुरुष से सम्बन्ध के योग्य नही हो, क्योकि मृदु चमेली की माला अत्यधिक कठोर कुश के बने डोरे से नही गूथी जाती है?

भावार्थ—दमयन्ती स्त्रियोचित गुणरूपी समुद्र के प्रवाह के सदृश है अत हस उसे अन्य पुरुष के सम्बन्ध के योग्य नहीं समझता है। जिस प्रकार चमेली की माला अत्यधिक कठोर कुश के बने डोरे से नहीं गूथी जाती है?

जीवातु सस्कृत टीका—नलान्यसम्बन्धस्त्वयोग्य इत्याह वेलातिगेति। वेलामतिगच्छन्तीति वेलातिगा नि सीमा स्त्रीणामिमे स्त्रैणा गुणा 'स्त्रीपुसाभ्या-नञ्स्नञावि' ति वचनात् नञ्प्रत्यय। त एवाब्धिस्तस्य वेणी प्रवाहभूत स्त्रीमिति शेष वेणाब्धिजलवन्धने। वाने सीम्नि च, वेणी तु केशवन्धे जलस्रुतौ इति वैजयन्ती।

नलादितरेण योगयोग्या योगार्हा नास्ति । तथाहि मृद्वी मल्लीमाला भृगवर्करेन दर्भगुणेन न सदर्भ्यते न सगुप्यते दृम-ग्रन्थ इति धातो कर्मणि लट्। व्यतिरेकेण दृष्टान्तालङ्कार ।

समासविग्रहादि—वेलाम् अतिक्रम्य गच्छतीति वेलातिगा, स्त्रीणाम् इमे स्त्रैणा, स्त्रैणाश्च ते गुणा ते एव अब्धि तस्य वेणी इति वेलातिगस्त्रैण गुणाब्धिवेणी। योगस्य योग्या योगयोग्या। मल्लीना माला मल्लीमाला। मृग वक्त्र तेन मृदवर्कनेन। दर्भस्य गुण तेन दर्भगुणेन।

व्याकरण—स्त्रैण=स्त्री+नञ्, मृद्वी=मृदु + ङीप् सन्दर्भ्यते=दृभ् (चुरादि)+लट्

विशेष—स्त्रियों के गुणो को यहाँ समुद्र कहा गया है, अत रूपक अलङ्कार है तुम नल से भिन्न पुरुष से सम्बन्ध के योग्य नहीं हो, इसमे सम अलङ्कार है। पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध वाक्य मे बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने के कारण दृष्टान्त अलङ्कार है ?

पूर्वाभास—हस ने ब्रह्मा से नल के योग्य दमयन्ती को सुना था।

**विधि वधू सृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम् ।**
**त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयाऽस्य सक्रीडति चक्रचक्रे ॥५०॥**

अन्वय —विधि तद्यानयुग्य (सन्) नलकेलियोग्या वधूसृष्टि अपृच्छम् एव। मया अस्य चक्रचक्रे सक्रीडति सति त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता ।

शब्दार्थ=विधि =ब्रह्मा जी से, तद्यानयुग्य (सन्)= उनके रथ को ढोते हुए, नलकेलियोग्या=नल की क्रीडा के योग्य, वधूसृष्टि =वधू की सृष्टि के विषय मे, अपृच्छम् एव=पूछा ही था। मया=मैंने, अस्य=ब्रह्मा जी के, चक्र-चक्रे=रथ के चक्रों मे, सक्रीडति=आवाज करते रहने, सति=पर, त्वन्नाम-वर्णाइव=दमयन्ती के नाम के समान वर्ण, कर्णपीता =कानो के द्वारा ग्रहण किए थे।

अनुवाद—ब्रह्मा जी से उनके रथ के ढोते हुए नल की क्रीडा के योग्य वधू की सृष्टि के विषय मे पूछा ही था। तब मैंने ब्रह्मा जी के रथ के चक्रो मे आवाज करते रहने पर दमयन्ती के नाम के समान वर्ण कान के द्वारा ग्रहण किए थे।

भावार्थ —हंस कहता है कि एक बार जब मैं ब्रह्मा जी के रथ को ढो रहा था तो मैंने ब्रह्मा जी से यह पूछ लिया कि नल की क्रीडा के योग्य आपने कौन सी स्त्री की रचना की है। ब्रह्मा जी ने तुम्हारे नाम के सदृश ही वर्णों का उच्चारण किया था, किन्तु ब्रह्मा जी के रथ के पहियों की आवाज के कारण मैं स्पष्ट नहीं सुन सका।

**जीवातुसंस्कृत टीका**—विधिमिति। किंच विधिं ब्रह्माणं नलस्य केले क्रीडाया योग्यामर्हां वधू सृष्टिं स्त्रीनिर्माणं तस्य विधेयनिम्य रथस्य युग्यो रथवोढा तत्र परिचित इत्यर्थ। "तद्वहति रथयुगप्रासगमि' ति यत्प्रत्यय।अहमपृच्छमेव दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् मया अस्य तद्यानस्य चक्रचक्रे रथाङ्गव्रजे संक्रीडति कूजति सति 'समोऽकूजन' इति वक्तव्येऽपि कूजतेनेमिनेपदम् त्वन्नामवर्णा मया कर्णेन पीता ग्रहीता। न केवल लिङ्गात् किन्त्वागमादपि ज्ञातोऽयमर्थ इत्यर्थ।

**समासविग्रहादि**—युग वहतीति युग्य, तस्य यानम् तद्यानम्, तस्य युग्य इति तद्यानयुग्य। नलस्य केलि नलकेलि तस्य योग्या ताम् नलकेलियोग्या। वध्वा सृष्टि वधूसृष्टि ताम् वधू सृष्टिं। चक्राणां चक्र तस्मिन् चक्रचक्रे। तव नाम त्वन्नाम तस्य वर्णा इति त्वन्नामवर्णा। कर्णाभ्यां पीता कर्णपीता।

व्याकरण—युग्य = युग + यत्। सृष्टि = सृज + क्तिन्। संक्रीडति = सम् + क्रीड् + शतृ।

विशेष—'त्वन्नामवर्णा इव' इसमें उपमा अलङ्कार है।

पूर्वाभास —ब्रह्मा जनापवाद से बचने के लिए नल के साथ दमयन्ती का ही मिलन करायेंगे।

**अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा।**
**जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातुः कतमा तरी स्यात् ॥५१॥**

अन्वय=वा अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मन विधातु जनापवादार्णवम् उत्तरीतु कतमा विधा तरी स्यात्?

शब्दार्थ =वा=अथवा, अन्येन पत्या=दूसरे पति के साथ, त्वयि= तुम्हारे, योजितायां=मिला देने पर, विज्ञत्वकीर्त्या='य जानकार हैं', इस प्रकार की कीर्ति से, गतजन्मन =जन्मातीत विधातु =ब्रह्मा को जनापवादार्णवम्= लोकापवाद रूपी समुद्र को, उत्तरीतु =पार करने में, कतमा विधा=कौन प्रकार

की, तरा=नौका, स्यात्=होगी।

अनुवाद—अथवा दूसरे पति के साथ तुम्हारे मिला देने पर, ये जानकार है, इस प्रकार की कीर्ति से युक्त ब्रह्मा को लोकापवाद रूपी समुद्र को पार करने में कौन प्रकार की नौका होगी?

भावार्थ—यदि ब्रह्मा दूसरे पति के साथ दमयन्ती को मिलाता है तो ब्रह्मा के विषय में यह उक्ति निरर्थक हो जायगी कि ये योग्यों का समागम कराने की विधि के जानकार हैं। नल के अतिरिक्त दमयन्ती को किसी अन्य को देने पर ब्रह्मा की जो लोकनिन्दा होगी उस लोकनिन्दा रूपी समुद्र को ब्रह्मा किस नौका से पार करेगा? अर्थात उस लोकनिन्दा को पार करना ब्रह्मा के लिए कठिन होगा।

जीवातु सम्बृत टीका—अन्येनेति। किं च अन्येन नलेतरेण पत्या–त्वयि योजितायां घटितायां सत्यां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मन अभिज्ञत्वख्यात्यैव नौनायुषा विधातुर्वा जनापवादार्णवमुत्तरीतुं निस्तरीतुं वृत्तौ वेति दीर्घः। कतमा विधा कः प्रकारः तरी तरणिः स्यात्? न काप्यीत्यर्थः। 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः। अतो दैवगत्याऽपि स एव त्वं मर्तेति भावः।

समासविग्रहादि—विज्ञस्य भावः विज्ञत्वम्, विज्ञत्वस्य कीर्तिः तया विज्ञत्वकीर्त्या। गतं जन्म यस्य स गतजन्मा तस्य गतजन्मनः। जनानाम् अपवादः जनापवादः जनापवाद एव अर्णवः तम् जनापवादार्णवं।

व्याकरण—विज्ञत्वम्=वि+ज्ञा+क+त्वम्। उत्तरीतुम्=उत्+तृ+तुम्।

विशेष—जनापवाद को इस पद्य में समुद्र कहा गया है, अतः रूपक अलङ्कार है। विधा विधा में यमक अलङ्कार है इसमें एक विधा शब्द प्रकार वाची है, दूसरा विधातुः का अङ्ग होने से निरर्थक है। यमक की परिभाषा है—

सत्यर्थे पृथगर्थाया स्वरव्यञ्जनसंहतेः
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥

यदि अर्थ हो तो पृथक् पृथक् (अन्यथा निरर्थक) स्वर-व्यञ्जन समुदाय उसी क्रम से यदि आवृत्ति हो तो यमक कहा जाता है।

पूर्वाभास—हंस दमयन्ती से कहता है कि तुम्हें पकड़कर मैंने अपराध किया है अतः तुम्हारा कौन सा इष्ट कार्य सम्पन्न करूँ।

**आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयालं मयासि तन्वि श्रमितातिवेलम् ।**
**सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामः किमीप्सितं ते विदधेऽभिधेहि ॥५२॥**

अन्वय—तत् आस्ता, अप्रस्तुत चिन्तया अल, हे तन्वि, मया त्वम अतिवेलम् श्रमिता असि, स अहम् तत् आग परिमार्ष्टु काम सन् ते किम् ईप्सितम् विदधे' इति अभिधेहि ।

शब्दार्थ —तत् = नल वाली बात, आस्ता = रहने दो, अप्रस्तुत चिन्तया = अप्रस्तुत की चिन्ता से, अल = बस करो, हे तन्वि = हे दुबल अङ्गों वाली । मया = मेरे द्वारा, त्वम् = तुम, अतिवेलम् = बहुत देर तक, श्रमिता असि = थकाई गई हो, स अहम् = वह मैं, तत् = उस, आग = अपराध को, परिमार्ष्टु काम सन् = परिमार्जित करने की इच्छा से, ते = तुम्हारा, किम् = क्या, ईप्सितम् = इष्टकार्य, विदधे = करू, इति अभिधेहि = इसके विषय मे कहिए ।

अनुवाद—नल वाली बात रहने दो। अप्रस्तुत की चिन्ता से बस करो । हे दुबल अङ्गों वाली ! मेरे द्वारा तुम बहुत देर तक थकाई गई हो। वह मैं उस अपराध को परिमार्जित करने की इच्छा से तुम्हारा क्या इष्टकार्य करू ।

भावार्थ—हस कहता है कि नल का प्रसग तो अप्रस्तुत था। अत इसके विषय मे बातचीत छोडो। मैंने तुम्हें बहुत देर तक थकाया, इस कारण मैं आपका अपराधी हूँ। उस अपराध के प्रायश्चित्त स्वरूप मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करू ।

जीवातु संस्कृत टीका —इत्थमाशामुत्पाद्य अस्याश्चित्तवृत्ति परिज्ञानाय प्रसङ्गान्तरेण निगमयति-आस्तामिति । तत्पूर्वोक्तमास्ता तिष्ठतु, अप्रस्तुत चिन्तया अल तया साध्य नास्तीत्यर्थ । गम्यमान साधनक्रियापेक्षया करणे तृतीया, अत एवाह 'न केवल श्रूयमाणक्रियापेक्षया कारकोत्पत्ति, किन्तु गम्यमानक्रियापेक्षया ऽपि इति न्यासकार । किन्तु हे तन्वि, कृशाङ्गि ! मया अतिवेलम् अत्यन्त श्रमिता खेदिता ऽसि, श्रमेण्यन्तात् क्मणि क्त । तत् श्रमणरूपमागोऽपराध परिमार्ष्टुकाम परिहर्तु काम । 'तु काममनसोरपि' ति मकार लोप । सोऽह किं त्वदीप्सित तव मनोरथ विदधे कुर्वे, अभिधेहि ब्रूहि ।

समासविग्रहादि—न प्रस्तुत अप्रस्तुत तस्य चिन्ता तया अप्रस्तुत-चिन्तया । परिमार्ष्टु कामो यस्य स परिमार्ष्टुकाम ।

व्याकरण —आस्ताम् = आस (लोट्) + त । श्रमिता = श्रम् + णिच् + क्त + टाप् । ईप्सितम् = आप् + सन् + क्त । विदधे = वि + धा + लट् + इट् । अभिधेहि = अभि + धा + लोट् + सिप् ।

विशेष—इस पद्य मे काम और किमीप्सित मे क की पुनरावृत्ति है, अत छेकानुप्रास अलङ्कार है।

पूर्वाभास—इस नल के विषय मे दमयन्ती के हृदय मे उत्सुकता उत्पन्न कर चुप हो गया।

**इतीरयित्वा विरराम पत्री स राजपुत्री हृदय बुभुत्सु.।**
**ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतर हि सन्त·॥५३॥**

अन्वय—राजपुत्री हृदयम् बुभुत्सु स पत्री इति ईरयित्वा विरराम। हि सन्त गम्भीरे ह्रदे हृदि च अवगाढे सति कार्यावतर शसन्ति।

शब्दार्थ—राजपुत्री हृदयम् =राजपुत्री के हृदय को, बुभुत्सु =जानने का इच्छुक, स पत्री=वह पक्षी, इति ईरयित्वा=इस प्रकार कहकर विरराम= चुप हो गया। हि=निश्चित रूप से सन्त =सन्त गभीरे=गम्भीर, ह्रदे= तालाब मे, हृदि च=और हृदय मे, अवगाढे सति=प्रवेश कर देखने पर, कार्यावतर=कार्य की अवतारणा शसन्ति=कहते हैं।

अनुवाद—राजपुत्री के हृदय को जानने का इच्छुक वह पक्षी इस प्रकार कहकर चुप हो गया। निश्चित रूप से सन्त गम्भीर तालाब मे और हृदय मे प्रवेश कर देखने पर कार्य की अवतारणा कहते है?

भावार्थ—हस राजपुत्री दमयन्ती के मनोभावो को जानने का इच्छुक था, अत वह इस प्रकार कहकर चुप हो गया, क्योकि जो सज्जन व्यक्ति होते है वे तालाब मे प्रवेशकर गहराई का पता लगाते हैं, अनन्तर अपनी बात कहते है। इसी प्रकार हृदय में प्रवेश कर उसकी गम्भीरता का पता लगाते है।

जीवातु सस्कृत टीका—इतीति। स पत्री हस इति ईरयित्वा राजपुत्र्या भैम्या हृदय बुभुत्सुर्जिज्ञासुर्विरराम तूष्णी बभूव, 'व्याङ् परिभ्यो रम' इति परस्मैपदम्। तथाहि—सन्त सायव गभीरे अगाधे हृदि ह्रदे च अवगाढे प्रविश्य दृष्टे सति कार्यस्य स्नानादे रहस्योक्तेश्च अवतर तीर्थं प्रस्ताव च शसन्ति कथयन्ति, अन्यथा अनर्थ स्यादिति भाव। अवतरो व्याख्यात। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार-।

समासविग्रहादि—राज पुत्री राजपुत्री, तस्या हृदय तत् राजपुत्री हृदय। कार्यस्य अवतर कार्यावतर तम् कार्यावतरम्।

व्याकरण—ईरयित्वा=ईर+णिच्+क्त्वा। बुभुत्सु =बुध्+सन्+

उ । विरराम=वि+रम्+लिट्+तिप् । अवगाढे=अव+गाह+क्त+ङि शसन्ति=शस+लट्+झि ।

विशेष—यहा विशेष का सामान्य से समर्थन होने के कारण अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार है।

पूर्वाभास=दमयन्ती ने विचार कर हंस को उत्तर दिया।

**किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्य वाच्य मनसा मुहूर्त्तम् ।**
**पतत्त्रिण सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दु. ।।५४।।**

अन्वय—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलि वक्त्रेण तृणीकृतेन्दु सा पृथिवीन्द्र पुत्री मुहूर्त मनसा वाच्य विचिन्त्य पतत्त्रिण जगाद ।

शब्दार्थ—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलि =चचल केशो को कुछ कुछ तिरछा किए हुए, वक्त्रेण=मुख से, तृणीकृतेन्दु =चन्द्रमा को तृण के समान (तुच्छ) करने वाली, सा=वह, पृथ्वीन्द्र पुत्री=राजपुत्री मुहूर्त=मुहूर्त भर के लिए,वाच्य=कहने योग्य बात को, विचिन्त्य=सोचकर, पतत्त्रिण=पक्षी से, जगाद=बोली ।

अनुवाद—चञ्चल केशो को कुछ कुछ तिरछा किए हुए मुख से चन्द्रमा को तृण के समान समझने वाली वह राजपुत्री मुहूर्त भर के लिए कहने योग्य बात को सोचकर पक्षी से बोली ।

भावार्थ—दमयन्ती का मुख इतना सुन्दर था कि उसके सामने चन्द्रमा भी तिरस्कृत होता था। ऐसे चञ्चल केशो को कुछ कुछ तिरछा किए हुए मुख वाली दमयन्ती ने क्या कहना चाहिए, क्या नही कहना चाहिए, इस विषय मे मुहूर्त भर के लिए सोचा । अनन्तर कहने योग्य बात को सोचकर पक्षी से बोली ।

जीवातु सस्कृत टीका—किञ्चिदिति । किञ्चित्तिरश्चीना स्वभावा-दीषत्साचीभूता विलोला आयासाद्विलुलिता मौलि केशबन्धो यस्या सा । 'मौलय सयता कचा' इत्यमर । वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुरघ कृत चन्द्रा सा पृथिवीन्द्र पुत्री भैमी मुहूर्तमल्पकाल मनसा वाच्य वचनीय विचिन्त्य पर्यालोच्य पतत्त्रिण जगाद ।

समासविग्रहादि—किञ्चित्तिरश्चीना विलोला मौलिर्यस्या सा किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलि । अतृण तृण यथा सम्पद्यते तथा कृतस्तृणीकृत । पृथिव्या इन्द्र तस्या पुत्री पृथिवीन्द्र पुत्री ।

व्याकरण—तृणीकृत=तृण+च्वि+कृ+क्त। वाच्य=वच्+ण्यत्। पतत्री=पतत्र+इन। जगाद=गद्+लिट्+तिप्।

विशेष—इस पद्य में 'तृणीकृतन्दु' पद में सादृश्य होने के कारण उपमा अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती हंस से कहती है कि बाल्य सुलभ चञ्चलता के कारण मैं तुम्हारे पीछे लग गई यह मैंने अच्छा नहीं किया।

धिक्चापले वत्सिमवत्सलत्व यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या।
समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वसमुपद्रुतोऽसि ॥५५॥

अन्वय—चापले वत्सिमवत्सलत्व धिक्। यत्प्रेरणात् उत्तरलीभवन्त्या मया समीरसङ्गात (उत्तरलीभवन्त्या) नीरभङ्ग्या तटस्थ इव त्वम् उपद्रुत असि।

शब्दार्थ—चापले—चञ्चल कर्म में वत्सिमवत्सलत्व—बाल्यावस्था के कारण प्रयुक्त चञ्चलता को धिक्—धिक्कार हो यत्प्रेरणात्—जिसकी प्रेरणा से उत्तरलीभवन्त्या—चञ्चल होने वाली, मया—मुझसे, समीरसङ्गात्—वायु के आघात से (उत्तरलीभवन्त्या—चञ्चल होने वाली), नीरभङ्ग्या—जल की तरङ्ग की तरङ्ग से तटस्थ किनारे पर स्थित (ध्वनि) के, इव—समान, त्वम्—तुम, उपद्रुत असि पीड़ित हो।

अनुवाद—चञ्चल कर्म में बाल्यावस्था के कारण प्रयुक्त चञ्चलता को धिक्कार हो जिसकी प्रेरणा से चञ्चल होने वाली मुझसे वायु के आघात से चञ्चल होने वाली जल की तरङ्ग से किनारे पर स्थित ध्वनि के समान तुम पीड़ित हो।

भावार्थ—जिस प्रकार वायु के आघात से चञ्चलता को प्राप्त जल की तरङ्ग से किनारे पर स्थित ध्वनि पीड़ित हो जाता है, उसी प्रकार बाल्यावस्था के कारण प्रयुक्त मेरी चञ्चलता से हे हंस! तुम तटस्थ होते हुए भी पीड़ित हुए हो अर्थात् तुमने मेरा कोई अपराध नहीं किया, फिर भी मैंने बालसुलभ चञ्चलता के कारण पीड़ित किया। मेरी उस चञ्चलता को धिक्कार हो।

जीवातुसंस्कृतटीका—धिगिति। चापले चपल कर्मणि, युवादित्वादण्, वयस्य भाव इत्यर्थः, तिष्ठन्तम् पृष्ठादित्वादिमनिच्। तेन निमित्तेन वत्सले व

वात्सल्य वात्सल्यप्रयुक्तचापलमित्यर्थ । तद्विक् । कुत ? यस्य चापलवात्सल्यस्य प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या चपलायमानया समीरभङ्गाद् वाताहतेस्तरलीभवन्त्या नीरभङ्ग्या जलवीच्येव तटस्थ उदासीन कूल गतश्च त्वमुपद्रुत पीडितोऽसि । अधर्महेतुत्वाद् बाल चापल साढव्यमिति भाव ।

समासविग्रहादि —वत्सस्य भावो वत्सिमा, वत्सलस्य भावो वत्सलत्वम् । यस्य प्रेरण तस्मात् यत्प्रेरणात् । समीरस्य भङ्ग तस्मात् समीरभङ्गात् । नीरस्य भङ्गी नीरभङ्गी तया नीरभङ्ग्या ।

व्याकरण—चापले=चपल+अण् । उत्तरलीभवन्त्या=उत्तरल+च्वि +भू+लट्+शतृ+ङीप्+टा । तटस्थ =तट+स्था+क । उपद्रुत =उप+द्रु+क्त (कर्मणि)

विशेष—यहा दमयन्ती की तुलना जलतरङ्ग से हस की तुलना किनारे स्थित व्यक्ति से की गई है अत उपमा अलङ्कार है ।

पूर्वाभास—दमयन्ती हस को आदर्श कहकर उसकी प्रशसा करती है ।

## आदर्शता स्वच्छतया प्रयासि सता स तावत् खलु दर्शनीयः । आग पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीद प्रतिबिम्बितं ते ॥५६॥

अन्वय—दर्शनीय (त्वम्) खलु स्वच्छतया सताम् तावत् आदर्शताम् प्रयासि । सागसम् माम् पुरस्कुर्वति यस्य ते आत्मनि इदम् आग प्रतिबिम्बितम् ।

शब्दार्थ—दर्शनीय =दर्शनीय (त्वम् =तुम), खलु=निश्चित रूप से, स्वच्छतया=स्वच्छता के कारण, सताम =सज्जनों के, तावत् आदर्शता=आदर्शपने को, प्रयासि=प्राप्त हो । सागसम =अपराध से युक्त, माम्=मुझे, पुरस्कुर्वति=पुरस्कृत करते हुए (सामने स्थापित करते हुए), यस्य ते आत्मनि=जिस तुम्हारी आत्मा मे इदम् आग =यह अपराध प्रतिबिम्बितम् =प्रतिबिम्बित हुआ है ?

अनुवाद —दर्शनीय तुम निश्चित रूप से स्वच्छता के कारण सज्जनों के आदर्शपने को प्राप्त हो । अपराध से युक्त मुझे पुरस्कृत करते हुए जिस तुम्हारी आत्मा मे यह अपराध प्रतिबिम्बित हुआ है ।

भावार्थ—सज्जन लोग दूसर के अपराध को अपना मानते हैं, इसी प्रकार दमयन्ती के अपराध को हस अपना अपराध मान रहा है, यह उसकी सज्जनता है । दर्शनीय हस निश्चित रूप से (शारीरिक और मानसिक) स्वच्छता के कारण सज्जनों का आदर्श है ।

जीवातु संस्कृत टीका —आदरतामिति । स्वच्छतया नैर्मल्यगुणेन आदर्श्यते पुरोगतवस्तुरूपमस्मिन्निति आदर्शो दर्पणस्तत्ता प्रयाति, मृत यस्य स्वच्छस्य ते तव सम्बन्धिनि सागस सापराधा मा पुरस्कृवति पूजयति अग्रे कुर्वाणे च आत्मनि बुद्धौ स्वरूपे च, पुरस्कृत पूजिते स्यादभि युक्ते ऽग्रत कृते । 'आत्मा यत्नो धृतिबुद्धि स्वभावो ब्रह्मवर्ष्मणो' ति चामर । इह मदीयमागोऽपराध प्रतिबिम्बितम् प्रतिफलितम् । पुरोवर्ति धर्माणामात्मनि सङ्क्रमणादादर्शोऽसीत्यथ , तत किमत आह–स आदर्शो सता साधूना तावत्प्रथम दर्शनीय अथवा पूज्यश्चेति शब्दार्थ खलु 'रोचन चन्दन हेम मृदङ्ग दर्पण मणिम् । गुरुमग्नि तथा सूर्यं प्रात पश्येत् सदा बुध ॥' इति शास्त्रादिति भाव ।

समासविग्रहादि—आगसा सहित सोऽऽगा =ताम् सागस । पुरस्करोतीति पुरस्कुवत्, तस्मिन् पुरस्कुवति ।

व्याकरण—स्वच्छतया =स्वच्छ + तल् + टाप् + टा । आदरता = आदर + तल् + टाप् + अम् । प्रयाति = प + या + लट + तिप ।

विशेष—इस पद्य मे 'दर्श, दर्श' म यमक अलङ्कार है ?

पूर्वाभास—दमयन्ती हस से अपने अपराध की क्षमा याचना करती है ।

अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य तावत् ।
हसोऽपि देवाशतयाऽसि वन्द्य श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्ति ॥५७॥

अन्वय—हे सौम्य ! भवान् कुमार्या मम अनार्यम् अपि आचरितम् तावत् क्षाम्यतु । हि हस अपि (त्वम्) श्रीवत्सलक्ष्मा मत्स्यमूर्ति इव वन्द्य असि ।

शब्दार्थ —हे सौम्य ! =हे सुन्दर ! भवान्=आप, कुमार्या मम= कुमारी मेरे, अनार्यम् अपि=अनार्य भी, आचरितम्=आचरण को, क्षाम्यतु= क्षमा करें । हि=निश्चित रूप से, हस अपि=हस होने पर भी (त्वम्—तुम) देवांशतया=देवता के अश होने के कारण, श्रीवत्सलक्ष्मा=श्री वत्स के लक्षण वाली, मत्स्यमूर्ति इव=मत्स्य की देह के समान, वन्द्य असि=वन्दनीय हो ।

अनुवाद—हे सौम्य ! आप कुमारी मेरे अनार्य भी आचरण को क्षमा करें । निश्चित रूप से हस होने पर भी देवता के अश होने के कारण श्रीवत्स के लक्षण वाली मत्स्य की देह के समान तुम वन्दनीय हो ।

भावार्थ—हस को यहाँ देवता का अश बतलाकर पूज्यनीय बतलाया गया है। जैसे देवाश। श्रीवत्स का चिन्ह रखने से मत्स्य पूज्यनीय है, उसी प्रकार हम भी पूज्यनीय है। उसके प्रति किया गया अपराध देवता के प्रति किया गया अपराध है, अत दमयन्ती उससे क्षमा मांगती हुई कहती है कि आप कुमारी मेरे अनाय आचरण को क्षमा करें।

समासविग्रहादि—देवस्य अश, तस्य भाव देवाशता, तया देवाश-तया। मत्स्यस्य इव मूर्तियस्य स मत्स्यमूर्ति। श्रीवत्सो लक्ष्म यस्य स श्रीवत्स-लक्ष्मा।

व्याकरण—क्षाम्यतु=क्षमूष्+लोट्+तिप्। देवाशतया=देवाश+तल्+टाप्। लक्ष्म=लक्ष्+मनिन्।

विशेष—हस को पूज्य बतलाने का कारण उसका देवताश है, अत यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। हस की पूज्यता मत्स्यमूर्ति की पूज्यता के समान बतलाने से यहाँ उपमा अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हस ने दमयन्ती से कहा था कि मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करू ? इसका उत्तर दमयन्ती ने दिया।

**मत्प्रीतिमाधित्ससि कां ? त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि याऽतिशेयताम्।**
**निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुः सृजति प्रजानाम् ॥५८॥**

अन्वय—हे हस ! का मत्प्रीतिम् आधित्ससि ? या मदक्ष्णो त्वदीक्षा मुदम् अतिशेताम्। इन्दु प्रजाना निजाऽमृतै लोचनसेचनात् पृथक् किं वा सृजति।

शब्दार्थ=(हे हस) का मत्प्रीतिम्=कौन सी मेरी प्रीति, आधित्ससि=करना चाहते हो ? या=जो, मदक्ष्णो=मेरी आँखों की, त्वदीक्षामुद=तुम्हारे दर्शन से होने वाली प्रीति का, अतिशेताम्=अतिक्रमण करे। इन्दु=चन्द्रमा, प्रजाना=लोगों का, निजाऽमृतै=अपने अमृत से, लोचनसेचनात्=नेत्रो का सेचन करने से, पृथक्=अतिरिक्त, किंवा सृजति=क्या करता है ?

अनुवाद—हे हस ! कौन सी मेरी प्रीति करना चाहते हो जो मेरी आँखों की तुम्हारे दर्शन से होने वाली प्रीति का अतिक्रमण करे ? चन्द्रमा लोगो का अपने अमृत से नेत्रो का सेचन करने से पृथक् क्या करता है ?

भावार्थ—दमयन्ती हंस से कहती है कि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने अमृत से लोगों के नेत्रों का सेचन करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं करता है, उसी प्रकार तुम कोई भी ऐसा कार्य करने में समर्थ नहीं हो जो कि मेरी आँखों को तुम्हारे दर्शन से होने वाली प्रीति का अतिक्रमण करे।

जीवातु संस्कृत टीका—अथ मदुक्त त्वयेप्सितं किं विदधे ? अभिधेहीति, तत्रोत्तरमाह—मत्प्रीतिमिति। का मत्प्रीतिं किं वा मदीप्सितमित्यर्थः। आधित्सति आधातुं कर्तुमिच्छसि ? दधाते सन्नन्ताल्लट्। या प्रीतिर्मदक्ष्णोः त्वदीक्षामुदं त्वदीक्षणप्रीतिमतिशेतां त्वल्—इदानीं त्वदीक्षणादन्यत् किं ममेप्सितमित्यर्थः। तथाहि इन्दुः प्रजानां जनानां निजामृतैर्लोचनसेचनात् पृथक् अन्यत् पृथग्विने' त्यादिना पञ्चमी। किं वा सृजति करोति न किञ्चित् करोतीत्यर्थः। दृष्टान्तालङ्कारः।

समासविग्रहादि—मम प्रीतिः मत्प्रीतिः ताम् मत्प्रीतिं। मम अक्षिणी तयोः मदक्ष्णोः तव ईक्षा त्वदीक्षा, तस्या मुत् ताम् त्वदीक्षामुदं निजामृतैः = निजस्य अमृतानि तैः निजामृतैः। लोचनयोः सेचनं तस्मात् लोचनसेचनात्।

व्याकरण—आधित्सति—आङ् + धाञ् + सन् + लट् + तिप्। अतिशेताम् = अति + शीङ् + लोट् + त। सृजति = सृज + लट् = तिप्।

विशेष—इस पद्य के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है, अतः दृष्टान्तालङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती अपना यह अभिप्राय व्यक्त करती है कि बालिका होने के कारण निर्लज्ज होकर कैसे नल के साथ अपने विवाह की इच्छा को कहने में मैं समर्थ हो सकती हूँ ?

**मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः।**
**का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा ॥५६॥**

अन्वय—मनः यं जातु न उज्झति, सः मनोरथः कण्ठपथं कथं यातु ? अलज्जा का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेत् ? अथवा हे द्विज ! अलज्जा का नाम बाला राजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेत्।

शब्दार्थ—मनः = मन, यं = जिसे, जातु = कभी भी, न उज्झति = नहीं छोड़ता है, सः = वह, मनोरथः = मनोरथ, कण्ठपथं = कण्ठमार्ग को, कथं = कैसे, यातु = प्राप्त होवे। अलज्जा = निर्लज्ज, का नाम बाला = कौन सी बाला,

द्विजराजपाणिग्रहाभिलाष=चन्द्रमा के पाणिग्रहण के अभिलाष को, कथयेत्=कहेगी, अथवा हे द्विज=अथवा हे हंस, ! अभिज्ञा=विवेकवती, का नाम बाला=कौन सी बाला, राजपाणिग्रहाभिलाष=राजा (नल) के पाणिग्रहण के अभिलाष को कहेगी ?

अनुवाद—मन जिसे कभी भी नहीं छोड़ता है, वह मनोरथ कण्ठमार्ग को कैसे प्राप्त होगा ! विवेकवती कौन सी बाला चन्द्रमा के पाणिग्रहण के अभिलाष को कहेगी अथवा हे हंस ! विवेकवती कौन सी बाला राजा (नल) के पाणिग्रहण के अभिलाष को कहेगी ?

भावार्थ—दमयन्ती कहती है कि मन में जिसे स्थान दिया हुआ है, उसके विषय में वचन से कहना सम्भव नहीं है। विवेकिनी कोई बालिका ऐसी नहीं है जो अपने हाथ से चन्द्रमा को ग्रहण करने की इच्छा प्रकट करे अथवा मैं कैसे राजा नल के साथ विवाह करने की अपनी इच्छा प्रकट करूं।

जीवातुसंस्कृतटीका—अत्र सर्वथा मनोरथः कथनीय इत्यभिप्रेत्य तान् शक्यमित्याह—मनस्त्विति। मनो मच्चित्तं कर्तृ यं मनोरथं जातु कदापि नोज्झति न जहाति, स मनोरथः कण्ठपथं वाग्विषयम् उपकण्ठदेशं च कथं यातु, सम्भावनायां लोट्। सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः। केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भावः। कुतः ? अभिज्ञा विवेकिनी का नाम बाला का वा स्त्री द्विजराजस्य इन्दोः पाणिना ग्रहः ग्रहणे अभिलाषः कथयेत्। तथा द्विज ! पक्षिन् ! राजपाणिग्रहाभिलाषं नलपाणिग्रहणेच्छामिति च गम्यते तथा च दुर्लभजनप्रार्थना द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहासास्पदीभूता कथं लज्जावत्या वक्तुं शक्या इत्यर्थः। पूर्व एवालङ्कारः ॥

समासविग्रहादि—कण्ठस्य पन्थाः कण्ठपथः तम् कण्ठपथं। द्विजानां राजः द्विजराजः तस्य पाणिः तेन ग्रहः तस्मिन् अभिलाषः तम् द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं। राज्ञः पाणिग्रहः तस्मिन् अभिलाषः तम् राजपाणिग्रहाभिलाषं।

व्याकरण—ग्रहः=ग्रह्+अच् (भावे)। कथयेत्=कथ+णिच्+विधिलिङ्+तिप्।

विशेष—द्विजराजपाणिग्रहाभिलाष में श्लेष अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हंस को दमयन्ती की वाणी बहुत मधुर लगी।

**वाचं तदीयां परिपीय मृद्वीं मृद्वीकया तुल्यरसां स हंसः ।**
**तत्याज तोषं परपुष्टघुष्टे, घृणां च वीणाक्वणिते वितेने ॥६०॥**

अन्वय—स हंस मृद्वीकया तुल्यरसां मृद्वीं तदीयां वाचं परिपीय परपुष्ट-पुष्टे तोषं तत्याज, वीणाक्वणिते च घृणां वितेने ॥

शब्दार्थ—स हंस = उस हंस ने, मृद्वीकया तुल्यरसां = अंगूर के तुल्य रस वाली, मृद्वीं = मृदु तदीयां = उसकी, वाचं = वाणी को, परिपीय = पीकर, तृष्णा के साथ सुनकर, परपुष्टपुष्टे = कोयल की आवाज के प्रति, तोषं = सन्तोष को, तत्याज = त्याग दिया च = और, वीणाक्वणिते = वीणा के निनाद के प्रति, घृणां = घृणा, वितेने = की।

अनुवाद—उस हंस ने अंगूर के तुल्य रस वाली उसकी वाणी को सुनकर कोयल की आवाज के प्रति सन्तोष को त्याग दिया और वीणा के निनाद में घृणा की।

भावार्थ—हंस को दमयन्ती की वाणी इतनी मधुर प्रतीत हुई कि उसे सुनकर उसे कोयल की आवाज भी अधिक मधुर नहीं लगी और वीणा का निनाद भी तुच्छ लगा।

जीवातु संस्कृत टीका—वाचमिति। हंस मृद्वीकया द्राक्षया, मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षे' त्यमरः। तुल्यरसां समानस्वादां मधुरामित्यर्थः। मृद्वीं मधुरां तदीयां वाचं परिपीय अत्यादरादाकर्ण्य परपुष्टपुष्टे कोकिलकूजिते तोषं प्रीतिं तत्याज, वीणाक्वणिते च घृणां जुगुप्सां 'घृणा जुगुप्सा कृपयोरिति' विश्वः। वितेने।

समासविग्रहादि—तुल्योरसो यस्याः सा ताम्, तुल्यरसां, तस्य इदं तदीया ताम्, तदीयां, परेण पुष्टः परपुष्टः, परपुष्टेन पुष्टं, तस्मिन् परपुष्टपुष्टे। वीणायाः क्वणितं तस्मिन् वीणाक्वणिते।

व्याकरण—तदीयां = तद् + छ (ईय) + टाप् + अम्। परिपीय = परि + पीङ् + क्त्वा (ल्यप्)। तत्याज = त्यज + लिट् + तिप्। वितेने = वि + तन् + लिट् + त।

विशेष—यहां कोयल की आवाज तथा वीणा के निनाद रूप उपमानों का तिरस्कार किया गया है, अतः प्रतीप अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती के वचन में कुछ सन्देह करके हंस बोला—

**मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्यां समाकुञ्चितवाचि हंसः।**
**तच्छंसिते किञ्चन संशयालुर्गिरा मुखाम्भोजमयं युयोज ॥६१॥**

अन्वय—अय हसो मन्दाक्षमन्दाऽक्षरमुद्रम् उक्त्वा तस्या समाकुञ्चितवाचि (सत्याम्) तच्छसिते किञ्चन सशयालु मुखाम्भोज गिरा युयोज ॥

शब्दार्थ—अथ हस =इस हस ने, मन्दाक्षमन्दाऽक्षरमुद्रम् =लज्जा से वर्णविन्यास को मन्द करके, उक्त्वा=भाषण कर, तस्या समाकुञ्चितवाचि=दमयन्ती के चुप हो जाने पर, तच्छसिते=उनके वचन मे, किञ्चन=कुछ, सशयालु =सन्देह करते हुए, मुखाम्भोज=मुख कमल को, गिरा=वाणी स, युयोज=युक्त किया अर्थात् कहा।

अनुवाद—इस हस ने लज्जा से वर्णविन्यास को मन्द करके भाषण कर दमयन्ती के चुप हो जाने पर उनके वचन मे कुछ सन्देह करते हुए मुख कमल को वाणी से युक्त किया।

भावार्थ—जब दमयन्ती लज्जा के कारण अस्पष्ट अक्षरो से युक्त वाणी मे बोल चुकी तो उसके वचन मे कुछ सन्देह करते हुए हस ने कहा।

जीवातु सस्कृत टीका—मन्दाक्षेति। तस्या भैम्या मन्दाक्षेण ह्रिया मन्दा मन्दितार्था अक्षरमुद्रा 'द्विजराजपाणिग्रहेत्याद्यक्षरविन्यासो यस्मिन् तत्तथोक्तमुक्त्वा समाकुञ्चितवाचि नियमितवचनाया सत्यामय हसस्तच्छसिते भैमीभाषिते किञ्चन किञ्चित्सशयालु सन्दिहान सन् 'स्पृहिगृही' इत्यादिना आलुच प्रत्यय। मुखाम्भोज गिरा युयोज मुखेन गिरमुवाचेत्यर्थ।

समासविग्रहादि—मन्दाक्षेण मन्दा इति मन्दाक्षमन्दा, अक्षराणा मुद्रा, मन्दाक्षमन्दा अक्षरमुद्रा यस्मिन् तद्यथा तथा मन्दाक्षमन्दाऽक्षरमुद्र, समाकुञ्चिता वाक् यया सा तस्याम् समाकुञ्चितवाचि, तच्छसिते=तस्या शसित तस्मिन् तच्छसिते, मुख अम्भोजम् इव तत् मुखाम्भोज।

व्याकरण—उक्त्वा=ब्रूञ् (वच्)+क्त्वा। युयोज=युज+लिट+तिप् (णल्)

विशेष—इस पद्य मे मुखाम्भोजम् मे उपमा अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हस दमयन्ती से कहता है कि क्या मै तुम्हारी गुप्त अभिलाषा को सुनने का भी अधिकारी नहीं हूँ।

**करेण वाञ्छेव विधुं विधर्तुं यमित्थमात्थादरिणी तमर्थम्।**
**पातुं श्रुतिभ्यामपि नाऽधिकुर्वे वर्णं श्रुतेर्वर्ण इवाऽन्तिम किम्? ॥६२॥**

अन्वय—(हे भैमि !) करेण विधुं विधर्तुम् वाञ्छा इव यम् अर्थम् इत्यम् आदरिणी [सती] आत्थ, तम् अर्थम् अन्तिमो वर्णः श्रुते वर्णम् इव श्रुतिभ्यां पातुम् अपि न अधिकुर्वे किम् ?

शब्दार्थ—हे भैमि = हे दमयन्ती, करेण = हाथ से, विधु = चन्द्रमा को, विधर्तुम् = पकड़ने की वाञ्छा इव = इच्छा के समान, इत्यम् = इस प्रकार, आदरिणी = आदर युक्त [सती—होती हुई], आत्थ = कहती हो तम् अर्थम् = उस अर्थ को अन्तिमो वर्ण = शूद्र, श्रुते = वेद के, वर्णम् = अक्षरों को, इव = जैसे, श्रुतिभ्या = कानों से, पातुम् अपि = पीने का भी न अधिकुर्वे किम् = अधिकारी नहीं हैं क्या ?

अनुवाद—हे दमयन्ती, हाथ से चन्द्रमा को पकड़ने जैसी इस प्रकार आदर पूर्वक जो (गुप्त) बात कही क्या मैं उसे कानों से भी सुनने का अधिकारी नहीं हूँ। जैसे कि शूद्र वेदों को सुनने का अधिकारी नहीं होता है।

भावार्थ—प्राचीन काल में शूद्रों को वेद सुनने का अधिकार नहीं था। हंस दमयन्ती से प्रश्न करता है कि हे दमयन्ती क्या इसी प्रकार मैं भी हाथ से चन्द्रमा को पकड़ने जैसी इच्छा को सुनने का अधिकारी नहीं हूँ।

जीवातुसंस्कृत टीका—करेणेति। हे भैमि ! करेण विधुं चन्द्रं विधर्तुं ग्रहीतुं वाञ्छेव यमर्थमित्थं 'द्विजराजपाणिग्रहे' इत्याद्युक्तप्रकारेण आदरिणी आदरवती सती आत्थ ब्रवीषि, 'ब्रुव पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' लटि सिपि पलादेश ब्रुवस्थाहादेश 'आहस्थ' इति हकारस्य थकार। तमर्थमन्तेनबोऽन्तिमो वर्णः शूद्र 'अन्ताच्चेति' वक्तव्यमिति डमच्। श्रुतेर्वेदं वेदाक्षरमिव श्रुतिभ्यां पातुं श्रोतुमपीत्यर्थ। अतः सोऽर्थो वक्तव्य इति तात्पर्यम्।

समासविग्रहादि—अन्ते भव अन्तिम।

व्याकरण—विधर्तुं = वि + धृञ् + तुमुन्। आदरिणी = आदर + इनि + ङीप्। आत्थ = ब्रू [आह] + लट् + सिप्। वाञ्छा = वाञ्छ + अ + टाप्।

विशेष—हंस दमयन्ती की इच्छा उसी प्रकार नहीं सुन सकता, जिस प्रकार शूद्र वेद नहीं सुन सकता है। यहाँ उपमा अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हंस कहता है कि प्रत्येक वस्तु प्रयत्न से प्राप्य है।

**अवाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तैकपद्यामपि वर्त्तते यः।**
**यत्रान्धकारः किल चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम् ॥६३॥**

अन्वय-य (अर्थ) चित्तैकपद्याम् अपि विद्यते स वो भवत्या अवाप्यने, इयत् किम् ? यत्र किल चेतस अपि अन्धकारः तत् अपि ब्रह्म जिह्मेतरैः अवाप्यम् (भवति)।

शब्दार्थ —य (अर्थ)=जो वस्तु, चित्तैकपद्याम्=चित्त रूप मार्ग मे, अपि=भी, विद्यते=है, स वा भवत्या=वह, भवन्या=तुम्हारे द्वारा, अवाप्यने=प्राप्त करना सम्भव है, इयत् किम्=हाथ मे चन्द्रमा को पकड़ने की तो बात ही क्या है ? यत्र=जहाँ पर, किल=निश्चित रूप से, चेतस अपि=चित्त का भी, अन्धकार=अन्धकार है, तत् अपि ब्रह्म=वह ब्रह्म भी, जिह्मेतरैः=अकुटिल अर्थात् कुशल बुद्धि वाले लोगो द्वारा अवाप्यम् भवति=पाने योग्य होता है।

अनुवाद—जो वस्तु चित्त रूप मार्ग मे भी है वह निश्चित रूप से तुम्हारे द्वारा प्राप्त करना सम्भव है। हाथ मे चन्द्रमा को पकड़ने की तो बात ही क्या है ? जहाँ पर निश्चित रूप से चित्त का भी अन्धकार है, उस ब्रह्म को भी सरल बुद्धि वाले लोग प्राप्त कर लेते है।

भावार्थ—व्यक्ति अपने मनोरथ को पूर्ण कर सकता है। कोई भी वस्तु प्रयत्नशील के लिए दुर्लभ नहीं है। मन भी जिस ब्रह्म को नहीं जानता है, उसे कुशलबुद्धि वाले लोग प्राप्त कर लेते हैं।

जीवातुसंस्कृतटीका—ननु तमथमत्यन्तदुर्लभत्वाद्रक्तु जिह्मेतरैरित्याशङ्क्याह-अर्थाप्यत इति । हे भैमि ! भवत्या किं वा इयदेवाद्यथा तथा अर्थाप्यते किमथमसमर्थो द्विजराजपाणिग्रहवदति दुर्लभत्वेनाप्याप्यत इत्यर्थः । अर्थशब्दात्तदाचष्ट इत्यर्थे णिच 'अथवेदसत्यानामापुग्वक्तव्य' इत्यापुगागम । कुत-स्तया नास्त्येव इत्यत आह-यो ऽ थ एक पादो यस्यामित्येकपदी एकपादसञ्चार योग्यमार्ग । 'वर्तन्येकपदीति चैत्यमर । कुम्भीपदीषु च' ति निपातनात् साधु । चित्तैकपद्या मनोमार्गेऽपि वर्तत चक्षुराद्यविषयत्वेऽपीत्यपि शब्दाथ । स कथ दुर्लभ इति भाव । तथाहि-यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि विषये चेतसो ऽप्यन्धकार प्रतिबन्ध तद् ब्रह्म जिह्मेतरैरकुटिलै कुशलधीभिरिति यावत्। अवाप्यम् सुप्रापम् अमनोगम्य ब्रह्मापि कैश्चिद् गम्यते, किमुत मनोगतो ऽथमर्थ । अनएवार्थाप-त्तिरलङ्कार । कैमुत्येनार्थान्तरापतनमर्थापत्तिरि ति वचनात् ॥

समासविग्रहादि—चित्तम् एव एकपदी तस्याम् चित्तैकपद्याम्। जिह्मेतरैः =जिह्मात् इतरैः तैः ।

व्याकरण—अवाप्यम् = अव + आप् + ण्यत् ।

विशेष—चित्तं कपद्मम् में रूपक अलङ्कार है। पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होने के कारण दृष्टान्त अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हंस दमयन्ती से कहता है कि मैं ब्रह्मलोक में भी सत्यवादी के रूप में प्रसिद्ध हूँ।

**ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशय लोकमध्ये ।**
**तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥६४॥**

अन्वय—हे ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये ! लोकेशलोकेशयलोकमध्ये अज्ञं तिर्यञ्चं (माम्) अपि मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् अञ्च।

शब्दार्थ—हे ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये = हे ईश्वर के अणिमा ऐश्वर्य के समान सूक्ष्म कमर वाली, लोकेशलोकेशयलोकमध्ये = ब्रह्मलोक में रहने वाले लोगों के बीच में, अज्ञं = मूढ़, तिर्यञ्चं = पक्षी (माम् = मुझे) अपि = भी, मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् = सबसे पहला सत्यवादी वाणी का यश रखने वाला, अञ्च = समझो।

अनुवाद—हे ईश्वर के अणिमा ऐश्वर्य के समान सूक्ष्म कमर वाली ! ब्रह्मलोक में रहने वाले लोगों के बीच में मूढ़ पक्षी मुझे भी सबसे पहला सत्यवादी वाणी का यश रखने वाला समझो।

भावार्थ—हंस दमयन्ती से कहता है कि मैं ब्रह्मलोक का निवासी हूँ। यद्यपि पक्षी होने के कारण मैं अज्ञ हूँ, तथापि मैं सत्यवादी हूँ, इस प्रकार मेरी वाणी का यश ब्रह्मलोक में प्रसिद्ध है। अतः तुम अपना गूढ़ अभिप्राय भी मुझ पर प्रकट कर सकती हो।

जीवातु संस्कृत टीका—अथ मयि मृषावादित्वाशङ्कया वक्तुं सङ्कोचश्चेत् न शङ्कनीयमित्याह—ईशेत्यादिना अयम्। ईशस्य दत्तणिमैश्वर्यं तस्य विवर्तो रूपान्तरं मध्यो यस्याः सा तथोक्ता हे कृशोदरीत्यर्थः। लोकेशस्य लोके शेरत इति लोकेशलोकेशयाः ब्रह्मलोकवासिनः 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः। 'शयवासवासिष्वकालादिति'लुक् तेषां लोकानां जनानां मध्ये अज्ञं मूढं तिर्यञ्चं पक्षिणमपि मामिति शेषः। मृषा अनृतं तस्य अनभिज्ञा रसज्ञा रसना यस्य तस्य भावस्तत्ता सत्यवादित्वमित्यर्थः। उपज्ञा यत इति उपज्ञा आद्यावगमाता 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यादि'त्यमरः। 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्ययः बहुलग्रहणात् कर्मणि न तथात्वेन ज्ञातं तदु—

पज्ञम् 'उपज्ञोपक्रम तदाद्याचिख्यासायामि' ति नपुसकत्वम् । सम साधारण सर्वज्ञा-यत इति समज्ञा कीर्ति पूर्ववद्दृत्प्रत्यय, तदुपज्ञ तथात्वेनादौ ज्ञाता समज्ञा कीर्ति-र्येन त तथोक्त मामञ्च, सत्यवादिन विद्धीत्यथ । अञ्चतेगत्यथत्वात् ज्ञानार्थत्वम् ।

समासविग्रहादि—अणोर्माव अणिमा, ईशस्य अणिमा स च तत् ऐश्वयम् तस्य विवर्त, ईशाऽणिमैश्वयविवर्तो मध्यो यस्या सा ईशाऽणिमैश्वयवि-वर्तमध्या, तत्सम्बुद्धौ (बहु) । लोकानाम् ईश, लोकेशस्य लोक लोकेश लोकेशेग्ते इति लोकेशलोकेशया, लोकेशलोकेशयाश्च ते लोका लाकेशलोकेशयलोका, लोकेश-लोकेशयाना मध्ये तस्मिन् लोकेशलोकेशय लोकमध्ये । मृषा अनभिज्ञा मृषाऽनभिज्ञा, मृषाऽनभिज्ञा रसज्ञा यस्य स मृषानभिज्ञरसज्ञ, मृषाऽनभिज्ञ रसज्ञस्य भाव मृषाऽन-भिज्ञरसज्ञता, मृषाऽनभिज्ञरसज्ञताया, उपज्ञा मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञम् ।

व्याकरण—ऐश्वर्यम् = ईश्वर + ष्यञ । विवर्त = वि + वृत् + घञ् । लोकेशय = लोक + शी + अच् । उपज्ञम् = उप + ज्ञा - अङ् + टाप् । समज्ञा = सम + ज्ञा + क + टाप् । अञ्च = अञ्च + लोट् + सिप ।

विशेष—लोकेश, लोकेश और अन अज्ञ मे यमक अलङ्कार है ।

पूर्वाभास—हम कहना है कि हमारी वाणी सत्य माग से विचलित नही होती है ।

**मध्ये श्रुतीना प्रतिवेशनीना सरस्वती वासवती मुखे न ।**
**ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धापथान्न ससर्गगुणेन बद्धा ॥६५॥**

अन्वय—प्रतिवेशनीनाम् श्रुतीना मध्ये वासवती इव न मुखे सरस्वती ससर्गगुणेन बद्धा (सती) ताभ्य ह्रिया इव अद्धापथात् न चलति ।

प्रतिवेशिनीनाम् = पडोसिन, श्रुतीना = श्रुतियो के, मध्ये = मध्य मे, वासवती = रहने वाली, इय = यह, न = हमारे, मुखे = मुख मे, सरस्वती = वाणी, ससर्गगुणेन बद्धा = ससर्ग के गुण से बद्ध होती हुई, ताभ्य = श्रुतियो से, ह्रिया इव = लज्जा से ही, अद्धापथात् = सत्य माग से, न चलति = चलायमान नही होती है ।

अनुवाद—पडोसिन श्रुतियो के मध्य म रहने वाली यह हमारे मुख । वाणी ससर्ग के गुण से बद्ध होती हुई श्रुतियो मे लज्जित होने के कारण से ही सत्यमार्ग से चलायमान नहीं होती है ।

भावार्थ—चूंकि मेरे मुख मे रहने वाली वाणी की पडोसिन श्रुतियाँ है। अत वाणी सत्यमार्ग से चलायमान नही होती है, क्योकि श्रुतियो के सामने असत्य मार्ग का आश्रय लेने पर मानो उसे लज्जा आती है।

जीवातु सस्कृत टीका—मध्य इति। कि च प्रतिवेशिनीना प्रतिवेश्मना श्रुतीना वेदाना ब्रह्मम् खस्थाना श्रुतीना मध्ये वासवती निवसन्ती इय नो ऽ स्माक मुखे सरस्वती वाक् ससग एव गुण श्लाघ्यधर्म तम्तुल्य येन बद्धा सती ताभ्य श्रुतिभ्यो ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा। अथापथात् सत्यमार्गा न चलति ससर्गजा दोषगुणा भवन्तीति भाव। सत्ये त्वद्धाऽञ्जसाद्वयमित्यमर।

समासविग्रहादि—प्रतिविशन्तीति प्रतिवेशिन्य तासाम् प्रतिवेशिनीनां, ससग एव गुण तेन ससगगुणेन, अद्धा पन्था अद्धापथ, तस्मात्।

व्याकरण—प्रतिवेशिनीना = प्रति + विश् + णिनि + ङीप् + आम्। वासवती = वास + मतुप् ङीप् + सु। बद्धा = बन्ध + क्त = टाप् + सु।

विशेष—इस पद्य मे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती जो कुछ चाहेगी, वह उसे प्राप्त होगा, यह अभिप्राय इस व्यक्त करता है।

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्का लङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम्।
कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशयेशयालु ॥६६॥

अन्वय—कुत्र अपि वस्तुनि अभिलाषि तं चित्त पर्यङ्कतापन्न सरस्वदङ्का लङ्कापुरीम् अपि प्रयाति चेत् तत् अपि स्वशये शयालु अवेहि।

शब्दार्थ—कुत्र अपि वस्तुनि = किसी वस्तु मे, अभिलाषि = अभिलाषा करने वाला, ते चित्त = तुम्हारा चित्त, पर्यङ्कतापन्न सरस्वदङ्काम् = पलङ्ग के समान समुद्र रूप चिह्न वाली, लङ्कापुरीम् = लङ्कानगरी मे, अपि = भी, प्रयाति चेत् = जाता है तो, तत् अपि = उस वस्तु को भी, स्वशये = अपने हाथ मे, शयालु = स्थित, अवेहि = जानिए।

अनुवाद—किसी भी वस्तु मे अभिलाषा करने वाला तुम्हारा चित्त पलङ्ग के समान समुद्र रूप चिह्न वाली लङ्कानगरी मे भी जाता है तो उस वस्तु को भी अपने हाथ म स्थित जानिए।

भावार्थ—दमयन्ती किसी भी वस्तु को चाहे, वह सब उसके हाथ में आ जायगी, चाहे उसका मन लङ्कानगरी में भी क्यों न जाए। अर्थात् दमयन्ती को भी कोई भी वस्तु दुष्प्राप्य नहीं है।

जीवातुसंस्कृत टीका—तत किमित्यत आह—पयङ्केति । कुत्रापि वस्तुनि द्वीपान्तरस्थेऽपीतिभाव । अभिलाषि साभिलाष ते तव चित्त कर्तृ पयङ्कता वाम्सकथिकात्वमापन्न सरस्वान् सागरोऽङ्कचिह्न यस्यास्तामतिदुर्गमामित्यर्थ । ता लङ्कापुरीमपि प्रयाति चेत्तदपि तद्दुर्गस्थमपि स्वशये स्वहस्ते शयालु स्थित-मवेहि । पयस्तमपि पर्यङ्कस्थमिव जानीहि ।

समासविग्रहादि—पर्यङ्कस्य भाव पयङ्कता, पयङ्कतापन्न सरस्वान अङ्को यस्या सा ताम् पयङ्कताऽऽपन्नसरस्वदङ्का लङ्का चा ऽसौ पुरी ताम् लङ्कापुरीम्, स्वस्य शय तस्मिन् स्वशये ।

व्याकरण—अभिलापि=अभि+लष्+णिनि । पयङ्कता=पयङ्क +तल्+टाप् । शयालु =शीङ्+आलुच् ।

पूर्वाभास—दमयन्ती अपनी अभिलाषा व्यक्त करती है कि मेरा चित्त नल को चाहता है।

**इतीरिता पत्त्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी ।**
**"चेतो न लङ्कामयते मदीयं, नाऽन्यत्र कुत्रा पि च साभिलाषम् ॥६७॥"**

अन्वय—तेन पत्त्ररथेन इति ईरिता भैमी ह्रीणा हृष्टा च (सती) बभाण–मदीय चेतो लङ्का न अयते (पक्षान्तरे श्लेषेण–मदीय चेतो नल कामयते)। अन्यत्र कुत्र अपि साऽभिलाष न।"

शब्दार्थ—तेन पत्त्ररथेन=उस पक्षी के द्वारा, इति ईरिता=ऐसा कहे जाने पर, भैमी=दमयन्ती ने, ह्रीणा=लज्जित होकर, च=और, हृष्टा=प्रसन्न होकर, बभाण=कहा, मदीय = मेरा, चेतो =चित्त, लङ्का=लङ्का, न अयते= नहीं जाता है (पक्षान्तर मे श्लेष से–मदीय=मेरा, चेतो=चित्त, नल=नल को, कामयते=चाहता है), अन्यत्र=दूसरी जगह, कुत्र अपि=कहीं पर भी, साऽभि-लाष न=अभिलाषा से युक्त नहीं है।

अनुवाद—उस पक्षी के द्वारा ऐसा कह जाने पर दमयन्ती ने लज्जित होकर प्रसन्न होकर कहा—मेरा चित्त लङ्का नहीं जाता है, (मेरा चित्त नल को चाहता है) दूसरी जगह कहीं पर भी अभिलाषा से युक्त नहीं है।

जीवातुसत्कृतटीका—इतीति तेन पत्त्ररथेन पक्षिणा हंसेन इतीत्थमीरिता उक्ता भैमी ह्रीणा स्वयमेव स्वाकूतव्यनसङ्कोचात् लज्जिता, 'नृदिवे' त्यादिना विकल्पनिष्ठानत्वम्। हृष्टा उपायलाभान्मुदिता च सती बभाण। किमिति ? मदीय चेतो लङ्घाम् नायते, किन्तु नल राजान कामयत इति श्लेषभङ्ग्या बभाणेत्यर्थ । अन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि साभिलाष न।

समासविग्रहादि—पत्त्र रथो यस्य स तेन पत्त्ररथेन, ह्रीणा=ह्री+त—टाप्। हृष्टा=हृष+त+टाप् । बभाण=भण+लिट्+तिप् (णल्), अयत=अय+लट्+त। कामयते=काम+णिङ्+लट्+त ।

विशेष—इस पद्य मे श्लेष अलङ्कार है।

पूर्वाभास—श्लेषोक्ति के कारण अस्पष्ट बोलने वाली दमयन्ती से हंस ने कहा।

विचिन्त्य बालाजनशील शैल लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम् ।
आचष्ट विस्पष्टमभाषमाणामेना स चक्राङ्गपतङ्गशक्र ॥६८॥

अन्वय—विस्पष्टम् अभाषमाणाम् एना स चक्राङ्गपतङ्गशक्रः बालाजनशीलशैल लज्जानदीमज्जदनङ्गनाग विचिन्त्य आचष्ट।

शब्दार्थ—विस्पष्टम्=सुस्पष्ट, अभाषमाणाम्=न बोलने वाली, एना=इस दमयन्ती से, स=उस, चक्राङ्गपतङ्गशक्र=हंस पक्षियो मे श्रेष्ठ ने, बालाजनशीलशैल=भोली भाली स्त्रियो के स्वभाव रूप पवत मे, लज्जानदीमज्जदनङ्गनाग=लज्जा रूपी नदी मे कामदेव रूपी हाथी डूबा रहता है इस प्रकार, विचिन्त्य=सोचकर, आचष्ट=कहा।

अनुवाद—सुस्पष्ट न बोलने वाली इस दमयन्ती से उस हंस पक्षियो मे श्रेष्ठ ने भोली भाली स्त्रियो के स्वभाव रूप पवत मे लज्जा रूपी नदी मे कामदेव रूपी हाथी डूबा रहता है, इस प्रकार सोचकर कहा।

भावार्थ—मुग्धा स्त्रियो का स्वभाव रूपी दुगम पवत ऐसा होता है कि उसकी लज्जा रूपी नदी मे कामदेव रूपी हाथी डूबा रहता है—ऐसा सोचकर जो भलीभाति स्पष्ट नहीं बोल पा रही थी ऐसी दमयन्ती से श्रेष्ठ हंस ने कहा।

जीवातु संस्कृत टीका—विचिन्त्येति। विस्पष्टमभाषमाणा स्फुटोक्तिवत्स्वदिशमेव भाषमाणामित्यर्थ । एना दमयन्ती स चक्राङ्गपतङ्गशक्र हंसपक्षि-

श्रेष्ठ बालाजनस्य मुग्धाङ्गनाजनस्य शील स्वभावमेव शैल लज्जायामेव नद्या मज्जदनङ्गनागो यस्य त विचिन्त्य विचार्य आचष्ट, तस्य लज्जाविजितमन्मथत्व ज्ञात्वा लज्जाविसर्जनाय वाक्यमुवाचेत्यर्थ ।

**समासविग्रहादि**—न मापत इति मापमाणा, न मापमाणा ताम अमापमाणा, चराङ्गश्च त पतङ्गा, चराङ्गपतङ्गानाशन चराङ्गपनङ्गशन, बाला चासौ जन, बालजनस्य शीलम् तदेव शैल तम् बालाजनशीलशैल। लज्जा एव नदी लज्जा नदी, अनङ्ग एव नाग, अनङ्ग एव नाग, मज्जन् अनङ्ग नागो यस्य स मज्जदनङ्गनाग, तम लज्जानदीमज्जदनङ्गनाग ।

**व्याकरण**—मापमाणा=माप+लट+शानच्+टाप्। न मापमाणा ताम् अमापमाणा। विचिन्त्य=वि+चिन्त+णिच+क्त्वा (ल्यप्)। आचष्ट= आ+चक्ष्+लङ्। लज्जा=लज्ज्+अ+टाप्। पतङ्ग=पतन्+गम्+ट ।

**विशेष**—यहाँ लज्जा को नदी, कामदेव को हाथी तथा बालाजन के शील को शैल कहा गया है, अत रूपक अलङ्कार है।

**पूर्वाभास**—हम दमयन्ती से कहता है कि नल विषयक तुम्हारे भाव को मैं जान गया हूँ।

**नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नलं मन. कामयते ममेति ।**
**आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्या श्लोकद्वयार्थ सुधियामया किम् ॥६६॥**

**अन्वय**—श्लेषकवे भवत्या नृपण पाणिग्रहणेस्पृहा इति मम मनो नल कामयते इति श्लोकद्वयार्थ सुधिया मया न आश्लेषि किम् ?

**शब्दार्थ**—श्लेषकवे=श्लेष से कविता करने वाली, भवत्या=आपकी, नृपेण=राजा (नल) के साथ, पाणिग्रहणे=पाणिग्रहण में, स्पृहा=अभिलाषा है, इति मम=इस कारण मेरा मनो=मन, नल=नल को, कामयते=चाहता है, इति=इस प्रकार, श्लोकद्वयार्थ=दो श्लोकों का अर्थ, सुधिया=अच्छी बुद्धि वाले, मया=मेरे द्वारा, न आश्लेषि किम् ?=क्या गृहीत नहीं हुआ।

**अनुवाद**—श्लेष से कविता करने वाली आपकी राजा (नल) के साथ पाणिग्रहण में अभिलाषा है [३/५६], इस कारण मेरा मन नल को चाहता है [३/५७] इस प्रकार दो श्लोकों का अर्थ अच्छी बुद्धि वाले मेरे द्वारा क्या गृहीत नहीं हुआ ? अर्थात् अवश्य गृहीत हुआ है।

भावार्थ—हंस दमयन्ती से कहता है कि 'राजा से पाणिग्रहण की इच्छा' तथा नल को मन चाहता है इन दो श्लोकों का अर्थ मैंने अच्छी तरह से समझ लिया है। यद्यपि इन दोनों श्लोकों को दमयन्ती ने श्लेषमयी शैली में कहा है।

जीवातु संस्कृत टीका—नृपेणेति। श्लेषकवे श्लेषभङ्ग्या कवयित्र्या श्लिष्ट शब्दप्रयोक्त्र्या इत्यर्थ कवृ वर्णने इति धातो रौणादिक इकारप्रत्यय। सम्बन्धसामान्ये षष्ठी नृपेण कर्त्रा पाणिग्रहण पाणिपीडनम् उभयप्राप्तौ कर्मणि इति विहितायां षष्ठ्या कर्मणि चेति समासनिषेधेऽपि शेषे षष्ठी समास। तत्र स्पृहेति मम मनो नल कामयत द्विजराजपाणिग्रहणे चेतो न कामयत इति श्लोकद्वयार्थ सुधिया मया विदुषा नाश्लेषि नाग्राहि किं ? गृहीत एवेत्यर्थ।

समासविग्रहादि—श्लेषेण कवि श्लेषकवि। पाणे ग्रहण पाणिग्रहण तस्मिन् पाणिग्रहणे। श्लोकयो द्वय, तस्य अर्थ इति श्लोकद्वयार्थ। सुष्ठु ध्याय-तीति सुधी तेन सुधिया।

व्याकरण—कामयते = कमु + णिङ् + लट् + त। आश्लेषि = आङ् + श्लिष + लुङ् + त। कवि = कव् + इ (औणादिक), द्वयम् = द्वि + तयप्।

पूर्वाभास—हंस कहता है कि मैं चाहता हूँ कि दमयन्ती नल के विषय में अपनी अभिलाषा स्पष्ट शब्दों में कहे।

त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्य भाव्यस्मि तदज्ञ एव।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दराऽपराद्धेषुरपि स्मरः स्यात् ॥७९॥

अन्वय—तु त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं सम्भाव्य तदज्ञ एव भावी अस्मि हि लोलशीले बालाहृदि लक्ष्ये स्मरः अपि दरापराद्धेषुः स्यात् ॥

शब्दार्थ—तु = किन्तु, त्वच्चेतसः = तुम्हारे मन की, स्थैर्यविपर्ययं = स्थिरता का अभाव, सम्भाव्य = सोचकर, तदज्ञ = उस (श्लोकद्वयार्थ) से, अनभिज्ञ, एव भावी अस्मि = ही रहूँगा हि = क्योंकि, लोलशीले = चञ्चल स्वभाव वाले, बालाहृदि = लड़कियों के हृदय में लक्ष्ये = लक्ष्य पर, स्मरः अपि = कामदेव भी, दरापराद्धेषुः स्यात् = कुछ निशाना चूकने वाला होगा।

अनुवाद—किन्तु तुम्हारे मन की स्थिरता का अभाव सोचकर उससे अनभिज्ञ ही रहूँगा, क्योंकि चञ्चल स्वभाव वाली बालिकाओं के हृदय में लक्ष्य पर कामदेव भी कुछ निशाना चूकने वाला होगा।

भावार्थ—हम दमयन्ती से कहता है कि मुझे तुम्हारे मन मे स्थिरता ज्ञात नहीं हो रही है अत मैं दोनो श्लोको के अभिप्राय को ग्रहण करने मे अनभिज्ञ ही रहूँगा। जो बालिकायें चञ्चल स्वभाव की होती हैं उनके विषय मे कभी कभी कामदेव भी लक्ष्य पर निशाना चूकने वाला होता है अर्थात् कामदेव का भी निशाना चूक जाता है।

जीवातु संस्कृत टीका—तर्हि किमर्थं करेण वाञ्छेत्यादिक मज्ञवदुक्त मित्यत आह– स्वच्चेतस इति। किन्तु स्वच्चेतस स्थैर्यविपर्ययम स्थिरत्व सम्भाव्य कस्य श्लोकद्वयार्थस्य अज्ञ अनभिज्ञ भावी भविष्यत् 'भविष्यति गम्यादय' इति साधु अस्मि। स्वच्चित्तनिश्चय पर्यन्तमित्यर्थः। धातुसम्बन्धे प्रत्यया इति भविष्यत्ताया गुणत्वात् वर्तमानतानुरोध। न चैवमनुरक्तायां मयि कुत इय शङ्केत्याशङ्क्ये स्त्रीणा चित्तचाञ्चल्यसम्भवादित्याह–लक्ष्य इति। लोलशीले चञ्चल स्वभावे बालाहृदि चित एव स्मरोऽपि वयापराद्धेपुरीव च्युत सायक स्यात्, कुशलोऽपि धन्वी चललक्ष्यात्वात्कदाचिदपराध्यत इति भाव। अपराद्ध पृषत्को ऽसौ लक्ष्यादय– च्युतसायक इत्यमर। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार।

समासविग्रहादि—तव चेत तस्य स्वच्चेतस, स्थैर्यस्य विपयय तम् स्थैर्यविपर्यय, तस्मिन् अज्ञ तदज्ञ, लोल शील यस्य तत् तस्मिन् लोलशीले, बालाया तत्, तस्मिन् बालाहृदि। अपराद्ध इषु यस्य स, दरम् अपराद्धेषु दराऽपराद्धेषु।

व्याकरण—सम्भाव्य=सम्+भू+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। भावी= भू+णिनि+सु।

विशेष—इस पद्य मे पूर्वार्द्ध मे कही हुई विशेष बात का उत्तरार्द्ध मे कही हुई सामान्य बात से समर्थन है, अत अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हस कहता है कि सशय की स्थिति मे मैं नल को कैसे समझाऊ गा।

**महीमहेन्द्र. खलु नैषधेन्दुस्तद् बोधनीय. कथमित्थमेव।**
**प्रयोजनं संशयकम्पमीदृक्पृथग्जनेनेव स मद्विधेन ॥७१॥**

अन्वय—नैषधेन्दु खलु महीमहेन्द्र (अस्ति), तत् पृथग्जनेन इव मद्विधेन स सांशयिकम् ईदृक् प्रयोजनम् प्रति इत्थम् एव कथम् बोधनीय ?

शब्दार्थ—नैषधेन्दु =निषधदेशवासियो के चन्द्रमा (नल), महीमहेन्द्र =पृथ्वी के इन्द्र हैं, तत्=अत, पृथग्जनेन इव=मूर्ख के समान, मद्विधेन=

मुग्ध जैसे व्यक्ति के द्वारा, स=वह, सांशयिकम्=संशययुक्त, ईदृक् प्रयोजनम् प्रति=ऐसे प्रयोजन के विषय में, इत्थम् एव=यों ही, कथम् बोधनीय=कैसे समझाने योग्य होंगे ?

अनुवाद—निषध देशवासियों के चन्द्रमा नल पृथ्वी के इन्द्र हैं, अतः मूर्ख के समान मुझ जैसे व्यक्ति के द्वारा वह संशययुक्त ऐसे प्रयोजन के विषय में यों ही कैसे समझाने योग्य होंगे।

भावार्थ—राजा नल निषध देशवासियों को आनन्द प्रदान करते हैं, अतः वे चन्द्रमा स्वरूप हैं तथा पृथ्वी के इन्द्र हैं। मैं उनका विश्वासपात्र हूँ, अतः मूर्ख के समान संशययुक्त मैं अपनी बात को उन्हें कैसे समझाने में समर्थ होऊँगा ? अर्थात् नल को मैं कोई निश्चयात्मक बात नहीं कह सकूँगा।

जीवातु संस्कृत टीका—महीति। नैषध इन्दुरिव नैषधेन्दुर्नलचन्द्रः महीमहेन्द्रः भूदेवेन्द्रः खलु तस्मात् स नलः। पृथग्जनेन प्राकृतजनेनेव मद्विधेन मादृशा विदुषा ईदृक् सांशयिकं सन्देहदुःस्थम् अस्थिरं प्रयोजनं प्रति इत्थमेव मुग्धाबालवत् कथं बोधनीयः ? असम्भवमित्यर्थः। 'गतिबुद्धि' त्यादिना अणि कर्त्तुर्णिजन्तस्य-कर्मत्वम् व्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति अभिधानाच्च।

समासविग्रहादि—महांश्चासौ इन्द्रः महेन्द्रः, मह्याः महेन्द्रः महीमहेन्द्रः। बोधयितुं योग्यः बोधनीयः।

व्याकरण—नैषधाः=निषध+अण्। सांशयिकः=संशय+ठक्, इत्थम्=इदम्+थम्। कथम्=किम्+थम्। बोधनीय=बुध+णिच्+अनीयर्।

विशेष—इस पद्य में 'नैषधेन्दु' और 'महीमहेन्द्र' में दो रूपकों की संसृष्टि है।

पूर्वाभास—हंस कहता है कि दमयन्ती को असंदिग्ध बात कहना चाहिए।

**पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे।**
**त्वदर्थमर्थित्वकृतिप्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ॥७२॥**

अन्वय—पितुः नियोगेन वा निजेच्छया अन्यं युवानं वृणीषे यदि, तदा निषधेश्वरस्य मयि त्वदर्थम् अर्थित्वकृतिः प्रतीतिः कीदृक् स्यात् ?

शब्दार्थ—पितु =पिता की नियोगेन आज्ञा से, वा=अथवा, निजेच्छया=अपनी इच्छा से, अन्य =दूसरे, युवान=युवक को, यदि वृणीषे=यदि वरण करती हो, तदा=तो, निषधेश्वरस्य=निषधदेश के राजा नल का, मयि=मेरे विषय मे, त्वदर्थम्=तुम्हारे लिए, अर्थित्वकृतिप्रतीति =याचना का विश्वास, कीदृक् स्यात्=कैसे होगा ?

अनुवाद—पिता की आज्ञा से अथवा अपनी इच्छा से दूसरे युवक को यदि वरण करती हो तो निषध देश के राजा नल का मेरे विषय मे तुम्हारे लिए याचना का विश्वास कैसे होगा ?

भावार्थ—हंस दमयन्ती से कहता है कि कदाचित् पिता की आज्ञा से अथवा अपनी इच्छा से यदि तुम दूसर युवक का वरण करती हो तो निषध देश के राजा नल को यह विश्वास कैसे होगा कि मैंने तुमसे नल का वरण करने हेतु याचना की है।

जीवातुसंस्कृतटीका—अथैत्यमेव बोधने को दोषस्तत्राह–पितुरिति। पितुर्नियोगेन आज्ञया निजेच्छया स्वेच्छया वा अन्य नलादय युवान यदि वृणीषे वृणोषि यदि, तदा निषधेश्वरस्य नलस्य मयि विषये त्वदर्थं तुभ्य, 'चतुर्थी तदर्थ' इत्यादिना चतुर्थी समास, 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्'। तदुक्तधा अर्थित्वकृति अर्थित्वभजन तत्र प्रतीतिविश्वास कीदृक् स्यात स्यादित्यर्थ । तस्मादसन्दिग्ध वाच्यमिति भाव ॥

समासविग्रहादि—निजस्य इच्छा निजेच्छा तया निजेच्छया। निषधानाम् ईश्वर तस्य निषधेश्वरस्य। अर्थिनो भाव अर्थित्व, अर्थित्वस्य कृति, तस्या प्रतीति अर्थित्वकृतिप्रतीति ।

व्याकरण—वृणीषे=वृञ्+लट्+थास् । स्यात्+अस्+विधिलिङ्+तिप् ।

पूर्वाभास—हंस दमयन्ती से कहता है कि तुम्हे मुझे सन्देह वाले कार्य मे नहीं लगाना चाहिए।

त्वया ऽपि किं शङ्कितविक्रिये ऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम्।
इत पृथक् प्रार्थयसेतु यद्यत् कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्रि ! सर्वम् ॥७३॥

अन्वय—हे उर्वीपतिपुत्रि ! वा त्वया अपि किं विधातु शङ्कित विक्रिये अस्मिन् विषय अहम् अधिक्रिये ? इत पृथक् यत् प्रार्थयसे तत् सर्वं कुर्वे ।

शब्दार्थ—हे उर्वीपतिपुत्रि=हे राजकुमारी। वा=अथवा, त्वम् अपि=आप भी, किं विधातु=क्या करने के लिए, शङ्कितविनिश्चये=विचार के सशय वाले, अस्मिन् विषये=इस विषय में, अहं अधिक्रिये=मुझे नियुक्त करती हैं? इतः पृथक्=इससे भिन्न, यत् प्रार्थयसे=जो प्रार्थना करोगी, तत् सर्वम्=वह सब, कुर्वे=करूँगा।

अनुवाद—हे राजकुमारी! आप भी क्या करने के लिए विचार के सशय वाले इस विषय में मुझे नियुक्त करती हैं? इससे भिन्न जो प्रार्थना करोगी, वह सब (मैं) करूँगा।

भावार्थ—हस दमयन्ती से कहता है कि हे राजकुमारी! आप भी जिसमें विचार बदल जाने की सम्भावना रहती है, ऐसे विवाह सम्बन्धी कार्य में मुझे क्यों नियुक्त करती हैं। इससे भिन्न जिस कार्य के विषय में भी मुझसे कहोगी, वह कार्य मैं कर दूँगा।

जीवातु सस्कृत टीका—अन्यथा तथा वक्तु न शक्यते नहि ततो ऽन्यदीप्सित कर्तव्ये प्रतिज्ञाम् तत्परिहारायेत्याह-त्वयेति। हे उर्वीपतिपुत्रि! भैमि! त्वयापि वा किं विधातुं किं कर्तुं शङ्कितविनिश्चये सम्भावितविपर्यये अस्मिन् विषये राजाधाणिग्रहण सघटन कार्ये अहम् अधिक्रिये विनियुज्ये, अनियोज्य इत्यर्थ। करोतेः कर्मणि लट्, किन्तु इत पृथगस्मादन्यत् यत्प्रार्थयसे तत्सर्व कुर्वे करोमीत्यर्थः।

समासविग्रहादि—उर्व्याः पतिः उर्वीपतिः तस्य पुत्री, तत्सम्बुद्धौ उर्वीपतिपुत्रि!, शङ्कितो विनिश्चयो यस्मिन् स शङ्कितविनिश्चये,

व्याकरण—अधिक्रिये=अधि+कृ+लट्+त। प्रार्थयसे=प्र+अर्थ+णिच्+लट्+थास्।

विशेष—इस पद्य में क्रिये क्रिये में यमक अलङ्कार है।

पूर्वाभास—फिर हिमाकर हस की बात से असहमति प्रकट करती हुई दमयन्ती बोली।

**अथ प्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना।**
**ऊचे ह्रिया विश्लथिताऽनुरोधा पुनर्धरित्रीपुरहूतपुत्री ॥७४॥**

अन्वय—धरित्रीपुरहूतपुत्री अथ प्रविष्टा इव तद्गिर वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना विधूय ह्रिया विश्लथितानुरोधा (सती) पुनः ऊचे।

शब्दार्थ—धरित्रीपुरुहूतपुत्री=पृथ्वी के इन्द्र की पुत्री दमयन्ती, श्रव प्रविष्टा इव=कान में प्रविष्ट हुए के समान, तद्गिर=हंस के वचनों को, वैमत्यधुतेन=असम्मति में हिलाए हुए, मूर्ध्ना=शिर से, विधूय=निवारण कर, ह्रिया=लज्जा से, विश्लथितानुरोधा (सती)=बन्धन को ढीला करती हुई, पुन ऊचे=पुन बोली।

अनुवाद—पृथ्वी के इन्द्र की पुत्री दमयन्ती कान में प्रविष्ट हुए के समान हंस के वचनों को असम्मति से हिलाए हुए शिर से निवारण कर लज्जा के बन्धन को ढीला करती हुई पुन बोली।

भावार्थ—दमयन्ती ने हंस के वचन सुनकर सिर हलाकर अपनी असम्मति प्रकट की तथा लज्जा को शिथिल करती हुई बोली।

जीवातुसंस्कृतटीका—श्रव इति। धरित्रीपुरुहूतपुत्री भूमीन्द्रसुता भैमी श्रव प्रविष्टा इव न तु सम्यक् प्रविष्टा तद्गिरो हंस वाच वैमत्येन असम्मत्या धुतेन कम्पितेन मूर्ध्ना विधूय प्रतिषिध्य ह्रिया कर्त्र्या विश्लथितानुरोधा शिथिलित वृत्तिस्त्यक्तलज्जा सती पुनरप्यूचे उवाच।

समासविग्रहादि—धरित्र्या पुरुहूत तस्य पुत्री धरित्री पुरुहूतपुत्री, श्रवसी प्रविष्टा ता श्रव प्रविष्टा, तस्य गिर ता, तद्गिर। विरुद्धा मति-विमति विमतेर्भावो वैमत्यम्, वैमत्येन धुत, तेन वैमत्यधुतेन, विश्लथित अनुरोध यस्या सा विश्लथितानुरोधा।

व्याकरण—विधूय—वि+धूञ्+क्त्वा (ल्यप्)। श्रव=श्रु+असु (करणे), वैमत्यम्=विमत+ष्यञ्। ऊचे=ब्रू+लिट्।
विशेष—विधूय इव में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती हंस से कहती है कि नल के अतिरिक्त अन्य किसी के साथ मेरे विवाह की आशङ्का नहीं करनी चाहिए।

**मदन्यदान प्रति कल्पना वा वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा।**
**निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्या ॥७५॥**

अन्वय—मदन्यदान प्रति या कल्पना (अस्ति) एषा तावत् त्वदीय हृदि वेद (चेत्) (तर्हि) निशा अपि सोमेतरकान्तशङ्काम् अस्य (वेदस्य) अग्रेसरम् ओङ्कारम् कुर्या।

शब्दार्थ—मदन्यदान प्रति=मुझे अन्य को दिए जाने की, या=जो, कल्पना [अस्ति]=कल्पना है, एषा तावत्=यह, त्वदीये हृदि=तुम्हारे हृदय में, वेद [चेत्]=यदि वेदवाक्य है (तर्हि=तो), निशा अपि=रात्री को भी, सोमेतर कान्तशङ्काम्=चन्द्रमा से भिन्न पति होने की सम्भावना को, अस्य=इस वेद के, अग्रेसरम्=आगे आने वाला, ओङ्कारम् कुर्या=ओंकार बना दो।

अनुवाद—मुझे अन्य को दिए जाने की जो कल्पना है, यह तुम्हारे हृदय में यदि वेदवाक्य है तो रात्रि की भी चन्द्रमा से भिन्न पति होने की सम्भावना को इस वेद के आगे आने वाला ओंकार बना दो।

भावार्थ—जिस प्रकार रात्रि का चन्द्रमा से भिन्न पति नहीं हो सकता, उसी प्रकार दमयन्ती कहती है कि नल से भिन्न मेरा कोई दूसरा पति नहीं हो सकता है। यदि दमयन्ती को अन्य को दिए जाने की कल्पना को कोई सत्य मानता है तो उसे यह भी विश्वास करना होगा कि रात्रि का चन्द्रमा से भी भिन्न पति हो सकता है।

जीवातु संस्कृत टीका—मदिति। मम अन्यदानं अन्यस्मै दानं प्रति दानं उद्दिश्य या कल्पना पितुर्नियोगेनेत्यादि श्लोकस्तर्कं। एषा कल्पना त्वदीये हृदि वदन्त्याव'गत्य एवेत्यर्थः। निशा निशाया अपि 'पद्न्नित्यादिना निशाया निशादेश सोमाच्चन्द्रादि रन्यान्तशङ्काम् पुरुषान्तरकल्पनामेव ओङ्कारम् प्रणवम् अस्य वेदस्या अग्रेसरमाद्यं कुर्या कुरु सर्वस्यापि वेदस्य प्रणवपूर्वकत्वादिति भावः। यथा निशाया निशाकरेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय इत्यर्थ। रूपकालङ्कार।

समासविग्रहादि—अन्यस्मै दानम् अन्यदानं, मम अन्य दानं तत् मन्यदानं, सोमात् इतर स चासौ कान्त तस्य शङ्कातम् सोमेतर कान्तशङ्काम्, अग्रे सरतीति अग्रेसर तम् अग्रेसरम्।

व्याकरण—त्वदीय=त्वत्+छ [ईय]। निशा=निश्+टाप्।

विशेष—इस पद्य में कल्पना में वेद का और शङ्का में ओंकार का आरोप है, अतः रूपक अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती हंस से कहती है कि नल के अतिरिक्त मेरे अन्य किसी के साथ विवाह की कल्पना करना आपका बड़ा साहस है।

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा।
मदन्यपाणिग्रहशङ्कितेयमहो! महीयस्तव साहसिक्यम्॥७६॥

अन्वय—सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा इयम् मदन्य-पाणिग्रहशङ्किता तव महीय साहसिक्यम्-इत्यहो।

शब्दार्थ —सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा=कमलिनी की मानसी रागवृत्ति का सम्पर्क सूर्य से भिन्न के साथ न होने की बात सोचे बिना ही, मदन्यपाणिग्रहशङ्किता=अन्य के साथ मेरे पाणिग्रहण की सम्भावना करना, तव=तुम्हारा, महीय=बहुत बडा, साहसिक्यम्=साहस है, इत्यहो=यह बडा आश्चर्य है।

अनुवाद—कमलिनी की मानसी रागवृत्ति का सम्पर्क सूर्य से भिन्न के साथ न होने की बात सोचे बिना ही अन्य के साथ मेरे पाणिग्रहण की सम्भावना करना तुम्हारा बहुत बडा साहस है, यह बडा आश्चर्य है।

भावार्थ—सरोजिनी का सूर्य से भिन्न पति नही होता है, इस बात को बिना सोचे ही हंस कल्पना कर रहा है कि दमयन्ती का नल से भिन्न पति हो सकता है। हंस का यह बहुत बडा साहस है।

जीवातुसंस्कृतटीका—सरोजिनीति । सरोजिन्या मानसरागवृत्ते मनोऽनुरागस्थितेरम्यन्तरस्य प्रवृत्तेश्च अनर्कसम्पर्कमर्केतरकान्तसङ्गतिमतर्कयित्वा अनूहित्वा तवेय मम अन्यस्य नलेतरस्य पाणिग्रह शङ्कत इति तच्छङ्कितस्य भावस्तत्ता महीयो महत्तर साहसिक्य साहसिकत्वम् अहो असम्भाव्यत सम्भावनादाश्चर्यम्।

समासविग्रहादि—मानसश्चासौ राग मानसराग, तस्य वृत्ति, सरोजिन्या मानसरागवृत्ति तस्या सरोजिनीमानसरागवृत्ते, न अर्क अनर्क, अनर्केण सम्पर्क तम् अनर्कसम्पर्कम्। न तर्कयित्वा अतर्कयित्वा। अन्यस्य पाणिग्रह, अन्य पाणिग्रह अन्यपाणिग्रह शङ्कितो भाव अन्यपाणिग्रहशङ्किता, मम अन्यपाणिग्रहशङ्किता इति मदन्यपाणिग्रहशङ्किता। सहसा वर्तत इति साहसिक साहसिकस्य भाव कर्म वा साहसिक्यम्।

व्याकरण—मानसम्—मनम्+अण्। महीय=महत्+ईयसुन्। साहसिक्यम्=सहस्+ठक्+ष्यञ्।

विशेष—इस पद्य मे सरोजिनी और अर्क मे नायक और नायिका के व्यवहार का आरोप किया गया है, अत समासोक्ति अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती कहती है कि यदि मुझे नल की प्राप्ति नहीं हुई तो मैं अग्नि मे अपने प्राण दे दूगी।

**साधुत्वयातर्कितमेतदेव स्वेनानलं यत्किल संश्रयिष्ये ।**
**विनामुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषा गिरं त्वा नृपतौ न कर्त्तुम् ॥७७॥**

अन्वय—एतत् त्वया साधु एव तर्कितम् यत् (अहं) किल स्वेन अनलं संश्रयिष्ये। अमुना विना तु आत्मनि प्रहर्तुम्, त्वा च नृपतौ मृषा गिरं न कर्तुम् अनलम् (एव) संश्रयिष्ये।

शब्दार्थ—एतत्=यह त्वया=तुमने, साधु एव=ठीक ही, तर्कितम्=विचार किया है, यत् अहं=कि मैं, स्वेन=स्वयं, अनल=अग्नि का, संश्रयिष्ये=आश्रय कर लूं, अमुना विना=नल के बिना तु आत्मनि प्रहर्तुम्=तो अपने पर प्रहार करने के लिए, त्वा च=और तुम्हें, नृपतौ=राजा नल के आगे, मृषा गिरम्=झूठ बोलने वाला, न कर्तुम=नहीं बनाने के लिए अनलम् एव=अग्नि का ही संश्रयिष्ये=आश्रय लूंगी।

अनुवाद—यह तुमने ठीक ही विचार किया है कि मैं स्वयं अग्नि का आश्रय कर लूं। नल के बिना तो अपने पर प्रहार करने के लिए और तुम्हें राजा नल के आगे झूठ बोलने वाला नहीं बनाने के लिए अग्नि का ही आश्रय लूंगी।

भावार्थ—हंस ने कहा था कि हो सकता है दमयन्ती अनल=नल से भिन्न किसी व्यक्ति का वरण कर ले। दमयन्ती अनल शब्द का अर्थ अग्नि करती हुई कहती है कि नल के बिना यह उचित है कि मैं अग्नि का आश्रय ग्रहण कर लूं, इससे मैं अपना प्राणान्त कर लूंगी और हंस भी नल के सामने झूठा सिद्ध नहीं होगा।

जीवातु संस्कृत टीका —साध्विति। किन्तु स्वेन स्वेच्छया अनलं नलादन्यम् अग्निं च संश्रयिष्ये प्राप्स्यामीति यत् त्वया तर्कितं ऊहितं तदकमेव साधु अतर्कि, किन्तु अमुना नलेन विना तदलाभ इत्यर्थः। स्वात्मनि प्रहर्तुं स्वात्मानं हिंसितुं कर्मणोऽधिकरणत्व विवक्षायां सप्तमी। अनेक शक्ति युक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः। सर्वदा सर्वतोभावात् क्वचित् किञ्चिद्विवक्ष्यते॥' इति वचनात् अनलं संश्रयिष्ये इत्यनुषङ्गः नृपतौ नले विषये त्वा मृषागिरमसत्यवाचं कर्तुं मरणमेव शरणम् अन्यथा मरणमेव शरणमिति भाव।

समासविग्रहादि—न नलः अनलः तम् अनलं, मृषा गीर्यस्य स मृषागीः, तम् मृषागिरं।

व्याकरण—मश्रयिष्ये=स+श्रि+लृट्+इट् । अर्तकि=तर्क+लुट्+त । प्रहृतु =प्र+हृ+तुमुन् । कर्तुम्=कृ+तुमुन् ।

विशेष—अनल शब्द के नलभिन्न तथा अग्नि दो अर्थ होने के कारण यहाँ श्लेष अलङ्कार है।

पूर्वाभास—अव्यभिचरित वाक्य जिस प्रकार वेद है, उसी प्रकार मेरी वाणी भी अव्यभिचरित होने से वेद है अतः दमयन्ती हंस से कहती है कि मेरी वाणी के विषय में तुम अन्यथा कल्पना न करो।

**मद्विप्रलम्भं पुनराह यस्त्वां तर्कः स किं तत्फलवाचि मूकः ?**
**अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ॥७८॥**

अन्वय—यः (तर्कः) त्वाम् मद्विप्रलम्भम् आह सः तर्कः तत्फलवाचि किं मूकः ? अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुः वाणी यदि न वेदाः, तु के (वेदाः) सन्तु।

शब्दार्थ—यः (तर्कः)=जो तर्क, त्वाम्=तुम्हें, मद्विप्रलम्भम्=मेरे द्वारा ठगे जाने योग्य, आह=कहता है, सः तर्कः=वह तर्क, तत्फलवाचि=उसके प्रयोजन के बतलाने में, किं मूकः ?=मूक क्यों है ? अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुः=व्यभिचार के हेतुओं की शङ्का से रहित, वाणी,=वाणी यदि न वेदाः=यदि वेद नहीं, तु के वेदाः (सन्तु)=तो वेद कौन हैं ?

अनुवाद—जो तर्क तुम्हें मेरे द्वारा ठगे जाने वाला कहता है, वह तर्क उसके प्रयोजन को बतलाने में मूक क्यों है ? व्यभिचार के हेतुओं की शङ्का से रहित वाणी यदि वेद नहीं तो वेद कौन हैं ?

भावार्थ—दमयन्ती हंस से कहती है कि यदि तुम सोचते हो कि मैं तुम्हें ठग रही हूँ तो तुम्हें यह भी सोचना चाहिए कि मेरा तुम्हें ठगने में प्रयोजन क्या है ? क्योंकि निष्प्रयोजन कोई किसी को ठगता नहीं है। वेद वाक्य वही हैं जहाँ हेतु व्यभिचारी नहीं है। मेरा हेतु भी व्यभिचारी नहीं, अतः मेरी वाणी वेदवाक्य के समान प्रामाणिक है।

जीवातु संस्कृत टीका—मदिति। किञ्च, यस्तर्क ऊहः मद्विप्रलम्भं मया विप्रलम्भनीयं 'पोरदुपधादिति' यत्प्रत्ययः। आह बोधयतीत्यर्थः, स तर्कः तस्य विप्रलम्भस्य फलवाचि प्रयोजनाभिधाने अवसरे किम् ? अतो मय्यसत्यवादित्व शङ्का न कार्येत्यर्थः। कथमेतावता सत्यवाक्यत्वनिश्चय अत आह—अशक्या शङ्का यस्य स अशक्यशङ्कः शङ्कितुमशक्य व्यभिचारहेतुर्विप्रलिप्सादिरूपो यस्या सा वाणी न वेदाः

यदि न प्रमाण चेत्तर्हि के तु वेदा सन्तु ? न केऽपीत्यर्थं सम्भावनायां लोट्। वेद-वाचामसत्यत्वे मद्वाचोऽप्यसत्यत्वम्, नान्यथेति भाव ।

समासविग्रहादि —मया विप्रलभ्य तत् मद्विप्रलभ्य। विप्रलब्धु योग्य विप्रलभ्य। तस्य फल, तस्य वाद् तस्याम् तत्फलवाचि। न शक्या अशक्या, अशक्या शङ्का यस्य स अशक्यशङ्का, व्यभिचारस्य हेतु व्यभिचार हेतु, अशक्यशङ्का-व्यभिचारहेतुर्यस्या सा अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतु ।

व्याकरण—विप्रलभ्यम्=वि+प्र+लभ्+यत् ।

विशेष—यहाँ दमयन्ती ने वाणी के वेद होने का कारण उसके हेतु का व्यभिचारी न होना बतलाया है, अत काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

पूर्वाभास —दमयन्ती कहती है कि नल से भिन्न किसी व्यक्ति का वरण करने मे मैं पिताजी की भी आज्ञा नही मानूगी।

**अनघधायैव जुहोति किं मां तात कृशानौन शरीरशेषाम् ?**
**ईष्टे तनूजन्मतनोस्तथापि मत्प्राणनाथस्तु नलस्स एव ॥७६॥**

अन्वय—तात शरीरशेषाम् माम् अनैषधाय एव जुहोति (तर्हि) कृशानौ एव किम् न जुहोति ? स नूनम् तनूजन्मतनो ईष्टे तथापि मत्प्राणनाथ तु नल एव ।

शब्दार्थ—तात=पिता जी, शरीरमात्रशेषाम्=शरीरमात्र जिसका शेष रहा है ऐसी, माम्=मुझे, अनैषधाय=निषध देश के राजा नल से भिन्न किसी के लिए, एव=ही, जुहोति=देते है (तर्हि=तो), कृशानौ एव=अग्नि मे ही किम् न जुहोति=क्यो नही होम कर देते है ? स=वह, नूनम्=निश्चित रूप से, तनूजन्मनो=पुत्री के शरीर के ही, ईष्टे=स्वामी हैं, तथापि मत्प्राण-नाथ=तथापि मेरे प्राणनाथ, तु=तो, नल एव=नल ही है।

अनुवाद—पिता जी शरीर मात्र शेष मुझे निषधदेश के राजा नल से भिन्न किसी के लिए देते है तो अग्नि मे ही क्यो नही होम कर देते है ? वह निश्चित रूप से अपनी पुत्री के शरीर के ही स्वामी है, तथापि मेरे प्राणनाथ तो नल ही है।

भावार्थ—दमयन्ती रूप से कहती है कि मेरे पिता नल से भिन्न किसी के लिए देते है तो वे मेरे शरीर को ही दे सकेंगे, आत्मा को नही। ऐसी स्थिति मे तो अच्छा है कि वे मुझे अग्नि मे ही होम दे। वे मेरे शरीर मात्र के ही स्वामी है। यथार्थ मे मेरे प्राणनाथ तो नल ही है।

जीवातुसंस्कृतटीका—एवं विजेच्छया नलायशङ्का निरस्य पित्रा—न्यथापि तां निरस्यति अनैषधायेति । ततो मम जनकः । 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः । मामनैषधाय नैषधान्नलादन्यस्मै एव जुहोति ददातीति काकु, तदा शरीरशेषा मृता तथापि कृशानौ न किं न तु जीवन्तीनग्नेरन्यत्र जुहोतीत्यर्थः । तदङ्गीकर्त्तव्यमेवेति भावः । कुतः ? स जनकः तनूजन्मनो आत्मजशरीरस्य ईष्टे स्वामी भवतीत्यर्थः । 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' ति शेषे षष्ठी । तथापि शरीरस्य पितुः स्वामिकत्वेऽपीत्यर्थः । मत्प्राणनाथस्तु नल एव प्राणनामलज्जन्यत्वादिति भावः । अतः मय्यविश्वासं मा कुर्वित्यर्थः ॥

समासविग्रहादि—शरीरम् एव शेषो यस्याः सा, ताम् शरीरशेषाम् । तन्वा जन्म यस्याः सा तनूजन्मा, तस्याः तनुः तस्या तनूजन्मनः । मम प्राणाः तेषां नाथः मत्प्राणनाथः ।

व्याकरण—तनूजन्मनः = यहां 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' सूत्र से ईश धातु के योग में षष्ठी हुई । ईष्टे = ईश + लट् + त ।

विशेष—इस पद्य में तनू तनो में अनुप्रास अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती कहती है कि किसी दूसरे की पत्नी बनने की अपेक्षा मैं नल की दासी ही बनना पसन्द करती हूँ।

**तदेक दासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधुविधित्सुता ते ।**
**अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाऽऽकरेणाऽपि सुधाकरेण ॥८०॥**

अन्वय—तदेकदासीत्वपदात् उदग्रे मदीप्सिते ते विधित्सुता साधु किम् ? नलिनी सुधाकरेण अपि अहेलिना सुधाकरेण किं विधत्ते ?

शब्दार्थ —तदेकदासीत्वपदात् = उस नल के एक दासीपने के पद से, उदग्रे = उत्कृष्ट, मदीप्सिते = मेरे इष्ट कार्य के सम्पादन में, ते विधित्सुता = तुम्हारी करने की इच्छा, साधु किम् ? = क्या उचित है । नलिनी = कमलिनी, सुधाकरेण अपि = अमृत की खान होने पर भी, अहेलिना = सूर्य से भिन्न, सुधाकरेण = चन्द्रमा से, किं विधत्ते = क्या करती है ? अर्थात् कुछ भी नहीं करती है ।

अनुवाद—उस नल के एक दासीपने के पद से उत्कृष्ट मेरे इष्ट कार्य के सम्पादन में तुम्हारी (कुछ) करने की इच्छा क्या उचित है ? कमलिनी अमृत की खान होने पर भी सूर्य से भिन्न चन्द्रमा से क्या करती है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रखती है ।

भावार्थ—नल का दासी रहना मुझे उचित है, किन्तु तुम्हारा मुझे किसी दूसरे की पत्नी बनाने हेतु प्रयत्न करना उचित नहीं, जिस प्रकार कि चन्द्रमा यद्यपि अमृत की खान है सूर्य प्रखर किरणों वाला है, तथापि कमलिनी सूर्य को ही चाहती है, चन्द्रमा को नहीं।

जीवातु संस्कृत टीका—पक्षितमाह—तदेवेति। तस्य नलस्यैवस्यैव दासीत्वं तदेव पदमधिकारस्तस्मादुदग्रे अधिके मदीप्सिते पत्नीत्वरूपे विषये तव विधित्सुता चिकीर्षुत्वं न साधु साध्वी, अविचारेण मनोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भाव। साध्विति सामान्योपक्रमात्नपुंसकत्वम्, 'दावय स्वमासेनापि शुनिवर्तमिनु-मिति' भाष्यकारप्रयोगात्। ननु विमशाभिनिवेशेन गुणवत्तर वेद्वान्तरस्वीकारे को दोषस्तत्राह— अहेलिनेति। नलिनी सुधाकरण अमृतदीधितिनापि अहेलिना असूर्येण सुधाकरेण चन्द्रेण किं विधत्ते ? किं तेन तस्या इत्यर्थः। तद्वममापि किं गुणान्तरेणेति भाव।

समासादिविग्रहादि—एका या ऽसौ दासी, तस्य एकदासी, तस्या भाव तदेकदासीत्वम्, तदेव पद तस्मात तदेकदासीत्वपदात्। मम इप्सित तस्मिन् मदीप्सित। विधातुम् इच्छु विधित्सु, विधित्सोर्भाव विधित्सुता सुधाया आकर सुधाकर तेन सुधाकरेण। न हेलि अहेलि तेन अहेलिना।

व्याकरण—विधित्सु = वि + धा + सन् + उ। विधित्सुता = विधित्सु + तल् + टाप। ईप्सितम् = आप् + सन् + क्त (कर्मणि)।

विशेष—इस पद्य में दृष्टान्त अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती कहती है कि नल के अतिरिक्त किसी भी वस्तु की मेरी स्पृहा नहीं है।

**तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम्।**
**चित्ते ममैकः स नलस्त्रिलोकीसारो निधिः पद्ममुखः स एव ॥८१॥**

अन्वय—तदेकलुब्धे मे हृदि अनर्घचिन्तामणिम् अपि लब्धुं चिन्ता न अस्ति। चित्ते अपि मम स नल त्रिलोकीसार पद्ममुख एक एव निधि अस्ति।

शब्दार्थ—तदेकलुब्धे = नल मे एक मात्र लुब्ध, मे = मेरे, हृदि = हृदय मे, अनर्घचिन्तामणि = बहुमूल्य चिन्तामणि रत्न को भी, लब्धुं = प्राप्त करने की, चिन्ता न अस्ति = चिन्ता नहीं है। चित्ते अपि = मन मे भी, मम = मेरे लिए,

स नल =वह नल, त्रिलोकीसार =तीनो लोकों मे सारभूत, पद्ममुख =कमल के समान मुख वाले, एक एव निधि =अद्वितीय निधि है ।

अनुवाद—नल मे एक मात्र लुब्ध मेरे हृदय मे बहुमूल्य चिन्तामणि रत्न को भी प्राप्त करने की चिन्ता नहीं है । धन मे भी मेरे लिए वह नल तीनो लोकों मे सारभूत कमल के समान मुख वाले अद्वितीय निधि है ।

भावार्थ—दमयन्ती कहती है कि मेरा मन नल मे ही आसक्त है । उसके सामने मुझे चिन्तामणि रत्न प्राप्त करने की भी अभिलाषा नही है । मेरा वास्तविक धन भी कमल के समान मुख वाला नल ही है, जो कि निधि स्वरूप है ।

जीवातुमस्कृतटीका—तदिति । तस्मिन्नेवैकस्मिन् लुब्धे लोलुप मे हृदि अनर्घचिन्तामणिमपि लब्धु चिन्ता विचारो नास्ति, तथा वित्ते धनविषयेऽपि मम स नलस्त्रिलोकीसारस्त्रैलोक्यश्रेष्ठ पद्ममुख पद्मानन एक स नल एव त्रैलोक्यसार, पद्मनिधिश्च । नलादन्यत्र कुत्रापि मे स्पृहा नास्ति । किमुत पुरुषान्तर इति भाव ।

समासविग्रहादि—एकम् च तत लुब्धम्, तस्मिन् तदेकलुब्धे । अविद्यमान अर्घ यस्य तम् अनर्घम् । त्रयाणा लोकाना सारस्त्रिलोकी, त्रिलोक्या, सार त्रिलोकी सार । पद्मम् इव मुख यस्य स पद्ममुख ।

व्याकरण—अर्घम् =अघ+घञ् । निधि=नि+धा+कि ।

विशेष—पद्ममुख मे उपमा तथा श्लेष का साङ्कर्य है । यहा पद्ममुख पद्मनिधि के लिए भी आता है । नल को यहाँ निधि बतलाया गया है, अत रूपक अलङ्कार है । चिन्ता और चिन्ता मे यमक है ।

पूर्वाभास—दमयन्ती हस से कहती है कि मेरा नल को प्राप्त करना अथवा प्राणत्याग आपके ही हाथ मे है—

**श्रुतश्चदृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम् ।**
**ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेकशेष ॥८२॥**

अन्वय—(स ) श्रुत, मोहात् हरित्सु दृष्ट च, नीरन्ध्रितबुद्धिधारम् ध्यात अद्य तत्प्राप्ति वा असुव्यय (एतत्) द्वयम् तव हस्ते आस्ते (किन्तु) एकशेष (स्यात्स्यति) ।

शब्दार्थ—(स)=उस नल के सम्बन्ध मे, श्रुत=(मैंने) सुना, मोहात्=मोह से हरित्सु=दिशाओ मे, दृष्ट=देखा, च और नीरन्ध्रिबुद्धि-धारम्=निरन्तर ज्ञान धारा से, ध्यात=ध्यान किया। अद्य=आज, तत्प्राप्ति=उसकी प्राप्ति, वा=अथवा, असुव्यय=प्राणविसर्जन (एतत्=यह), द्वयम्=दोनो, तव हस्ते=तुम्हारे हाथ मे, आस्ते=है, [किन्तु], एकशेष [स्यास्यति=एक ही शेष रहेगा ?

अनुवाद—उस नल के सम्बन्ध मे मैंने सुना, मोह से दिशाओ मे देखा और निरन्तर ज्ञान धारा मे ध्यान किया। आज उसकी प्राप्ति अथवा प्राणविसर्जन दोनो तुम्हारे हाथ मे हैं, किन्तु एक ही शेष रहेगा।

जीवातुसस्कृतटीका—श्रुतश्चेति। किं बहुना स नल श्रुत दूतद्विजवन्द्यादिमुखाद्वर्णितश्च, मोहात् भ्रान्तिवशात् हरित्सु दृष्ट साक्षात्कृतश्च, तथापि नीरन्ध्रितबुद्धिधार निरन्तरोद्गततदेकविषयबुद्धि प्रवाह यथा तथा ध्यातश्च। अद्य मम तत्प्राप्तिर्नलप्राप्तिसुव्यय प्राणत्यागो वा द्वयमेव द्वयोरन्यतर एवेत्यर्थ। शेष वाच्यशेष स च तव हस्ते आस्ते त्वदायत्त तिष्ठतीत्यर्थ। अत्र तत्पदार्थश्रवणमनन निदिध्यासनाभ्यासस्य ब्रह्मप्राप्तिदु खोच्छेदलक्षणमोक्षौ गुर्वायत्त एवेत्यर्थान्तरप्रतीतिश्वनिरेव अभिधाया प्रकृताधनियन्त्रणादि सक्षेप ॥

समासविग्रहादि—एक च तत् सुव्यम्, तस्मिन् एकसुव्य, तस्मिन् एकसुव्ये। अविद्यमान अर्थ यस्य तम् अनघम्, त्रयाणा लोकाना समाहार त्रिलोकी, त्रिलोक्या सार त्रिलोकीसार, पद्म एव मुख यस्य स पद्ममुख।

व्याकरण—नीरन्ध्रित=नीरन्ध्र+णिच्+क्त (कर्मणि)। द्वयम्=द्वि+तयप, तयप् को अयच् हो जाता है। ध्यात=ध्यै+क्त,

विशेष—मल्लिनाथ के अनुसार इस पद्य मे अभिधा के प्रस्तुत अर्थ के नियन्त्रण से तत्पदार्थ ब्रह्म के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से सम्पन्न व्यक्ति का ब्रह्मप्राप्ति और दु खविनाश रूप लक्षण वाला मोक्ष गुरु के आधीन ही है, ऐसे अर्थान्तर की प्रतीति रूप ध्वनि ही है।

पूर्वाभास—दमयन्ती हस मे सन्देह का परित्याग करने हेतु कहती है—

सन्चोयत्तामाश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनज च पुण्यम्।
निवार्यतामार्य ! वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेयमये भृश का ॥८३॥

अन्वय—चाश्रुतपालनोत्य च मत्प्राणविश्रानज पुण्य सञ्चीयताम्। हे आय ! वृथा विशङ्का निवार्यताम्। अये ! भद्रे अपि मृश का इव मुद्रा ?

शब्दार्थ—आश्रुतपालनोत्थ=प्रतिज्ञात विषय के निर्वाह से उत्पन्न, च=और, मत्प्राणविश्राणनज=मेरे प्राणो के दान से उत्पन्न, पुण्य=पुण्य को, सञ्चीयताम्=सचित करो। हे आर्य ! वृथा=हे आर्य ! व्यर्थ विशङ्का=सन्देह को, निवार्यताम्=छोड दो। अये=ओह, भद्रे अपि=कल्याणकारी विषय मे भी, मृश का इव मुद्रा=यह कैसी उदासीन मुद्रा है ?

अनुवाद—प्रतिज्ञात विषय के निर्वाह से उत्पन्न और मेरे प्राणो के दान से उत्पन्न पुण्य को सचित करो। हे आर्य ! व्यर्थ सन्देह को छोड दो। ओह, कल्याणकारी विषय म भी यह कैसी उदासीन मुद्रा है ?

भावार्थ—दमयन्ती हस से कहती है कि तुमने जिस कार्य को करने की प्रतिज्ञा की थी, उसका निर्वाह करने तथा मेरे प्राणो की रक्षा करने से तुम्हे पुण्य होगा। तुम्हें व्यर्थ शङ्का नही करना चाहिए। यह तो बहुत कल्याणकारी काय है। नल की प्राप्ति कराने रूप इस कल्याणकारी कार्य मे तुम्हे उदासीन नही होना चाहिए।

जीवातु संस्कृत टीका—सञ्चीयतामिति। हे हस ! आश्रुतपालनोत्थ प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहणोत्पन्न 'अङ्गीकृतमाश्रुत प्रतिज्ञातमि' त्यमर। मत्प्राणाना विश्राणन दान तज्जञ्च पुण्य सुकृत सञ्चीयता सगृह्यता, हे आर्य ! वृथा विशङ्का सन्देहो निवार्यताम्। अये ! अङ्ग ! भद्रे पूर्वोक्त पुण्यरूप श्रेयसि विषये मृशङ्कय मुद्रा औदासीन्य श्रेयसि नोदासितव्यमिति भाव।

समासविग्रहादि—आश्रुतस्य पालन आश्रुतपालनम्, आश्रुत पालनात् उत्तिष्ठतीति आश्रुतपालनोत्थ त आश्रुतपालनोत्थ। मम प्राणाना यत् विश्राणन तस्माज्जायते इति मत्प्राणविश्राणनज।

व्याकरण—आश्रुतपालनोत्थम्= आश्रुतपालन+ उद्+स्था+क। सञ्चीयता=स+चि+लोट्+यक्+त। निवार्यता=नि+वृ+णिच्+लोट्+यक्+त (कर्म मे)।

विशेष—यहाँ प्राण, श्राण, वार्य, मार्य मे अनुप्रास अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती हस से कहती है कि मेरी प्रार्थना को मत ठुकराइये—

अलं विलङ्घ्य प्रिय! विज्ञ! याञ्चा कृत्वाऽपि वाम्यं विविधं विधेये
यशः पथादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वाऽस्त खलोक्ति खेलात् ।८८

अन्वय—हे प्रिय ! हे विज्ञ ! याञ्चा विलङ्घ्य अलम् । वि
विविध वाम्य कृत्वाऽपि अलम् । आश्रवतापदोत्थात् अस्तखलोक्तिखेलात् यश
पथात् स्खलित्वा खलु ।

शब्दार्थ—हे प्रिय=हे प्रिय कार्य करने वाले, हे विज्ञ=हे विद्वन्, याञ्चा=प्रार्थना का, विलङ्घ्य=उल्लघन करने से, अलं=बस करो । विधेये=करने योग्य काय मे, विविध=अनेक प्रकार के, वाम्य कृत्वाऽपि=वक्रता करने से भी, अलम् =बस कीजिए। आश्रवतापदोत्थात्=स्वीकृत काय को पूरा करने से उत्पन्न अस्त खलोक्तिखेलात्=दुजन की उक्ति रूप विनोद से रहित, यश पथात्=कीर्तिमार्ग से, स्खलित्वा खलु=तुम्हें स्खलित नहीं होना चाहिए ।

अनुवाद—हे प्रिय काय करने वाले ! हे विद्वान ! प्रार्थना का उल्लघन करने से बस करो करने योग्य काय मे विविध प्रकार की वक्रता करने से भी बस करो । स्वीकृत काय को पूरा करने से उत्पन्न, दुजन की उक्तिरूप विनोद से रहित कीर्तिमार्ग से तुम्हें स्खलित नहीं होना चाहिए।

भावार्थ—दमयन्ती हस से कहती है कि तुम प्रिय कार्य करने वाले तथा विद्वान हो । तुम्हें मेरी प्रार्थना का उल्लघन नहीं करना चाहिए । जो काय करते है, उसमें कुटिल भाव धारण नहीं करना चाहिए । जो व्यक्ति स्वीकार किये हुए काय को पूरा करता है, तथा दुर्जनों की बात का विश्वास नहीं करता है वह कीर्तिशाली होता है । ऐसे कीर्तिशालियों के मार्ग से तुम्हें स्खलित नहीं होना चाहिए ।

जीवातु संस्कृत टीका—अलमिति । हे प्रिय ! प्रियङ्कर विज्ञ ! विज्ञ ! उभयत्र 'इगुपधे' त्यादिना क प्रत्यय । याञ्चा प्रार्थना विलङ्घ्य अलम् याञ्चाभङ्गो न काय इत्यर्थ । विधेये विनीतजने विविध वाम्य वक्रता कृत्वाऽपि अलं, तच्च न कार्यमित्यर्थ । आश्रवो यथोक्तकारी, 'वचने स्थित आश्रव' इत्यमर तस्य भावास्तत्ता सैव पद पदस्थान तदुत्थात् अस्ता निरस्ता खलोक्तिखेला मिथ्यावादविनोदो यन तस्माद्यश पथात् स्खलित्वा चलित्वा खलु न स्खलितव्यमित्यर्थ अन्यथा हानि स्यात् । 'निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये' इत्यमर 'अलं खल्वो प्रतिषेधयो, प्राचा क्त्वे' ति उभयत्रापि क्त्वाप्रत्यय इह 'न पादादौ' इत्यादिना निषेधयोद्वैतकरणाभिप्रायेणात्र तथ्य खलत्वादयानुद्वेजकत्वात् द्वितीय प्रयोगो न दुष्यत इति अनुसन्धेयम् ॥

समासविग्रहादि—वाम्य=वामस्य भावो वाम्यम्। आश्रवस्य भाव आश्रवता, आश्रवता एव पदम् आश्रवपद, आश्रवपदात् उत्तिष्ठतीति आश्रवपदोत्थ। खलस्य उक्ति खलोक्ति, खलोक्तं खेला खलोक्तिखेला, अस्ता खलोक्तिखेला येन स तस्मात् अस्तखलोक्तिखेलात्।

व्याकरण—आश्रवता=आश्रव+तल्+टाप्। पदोत्थ=पद+उद+स्था+क। विज्ञ=वि+ज्ञा+क। प्रिय=प्री+क। याञ्चा=याच्+नङ+टाप्। विधेयम्=वि+धा+यत्। खेला=खेर्+अ+टाप्।

पूर्वाभास—दमयन्ती हंस से कहती है कि तुम्हें ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे तुम्हारा यश और धर्म सुरक्षित रहे।

**स्वजीवमप्यार्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टे।**
**मह्यं मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मः कराद्भ्रश्यति कीर्तिधौत ॥८५॥**

अन्वय—ईदृश बद्धमुष्टे तव आर्त–मुदे स्वजीवम् अपि ददद्भ्य त्रपा न, यत् मदीयान् असून मह्यम् अदित्सो तव कीर्तिधौत धर्म करात् भ्रश्यति।

शब्दार्थ—ईदृश=इस प्रकार, बद्धमुष्ट=बद्धमुष्टि (कंजूस) तव=तुम्हें, आर्तमुदे=दीन पुरुष की प्रीति के लिए, स्वजीवनम् अपि=अपना जीवन भी, ददद्भ्य=देने वाले व्यक्तियों से, त्रपा न=लज्जा नहीं आती है, यत्=जो कि, मदीयान् असून=मेरे प्राणों को, मह्यम्=मुझे, अदित्सो=देने की इच्छा नहीं करने वाले, तव=तुम्हारा, कीर्तिधौत=कीर्ति से धोया गया अर्थात् उज्ज्वल, धर्म=धर्म, करात्=हाथ से, भ्रश्यति=भ्रष्ट होता है।

अनुवाद—इस प्रकार बद्धमुष्टि तुम्हें दीन पुरुष की प्रीति के लिए अपना जीवन भी देने वाले व्यक्तियों से लज्जा नहीं आती है, जो कि मेरे प्राणों को मुझे देने की इच्छा नहीं करने वाले तुम्हारा कीर्ति से उज्ज्वल धर्म हाथ से भ्रष्ट होता है [गिरता है, नष्ट होता है]

भावार्थ—दमयन्ती हंस से कहती है कि तुम बड़े कृपण हो, जो कि दीन पुरुषों की प्रसन्नता के लिए अपने प्राण त्याग करने वाले व्यक्तियों से प्रेरणा ग्रहण नहीं करते हो। ऐसे व्यक्तियों के सामने तुम्हें लज्जित होना चाहिए। तुम मेरे प्राणों को मुझे ही नहीं लौटाना चाहते हो। ऐसी स्थिति में तुम्हारा कीर्ति से उज्ज्वल धर्म तुम्हारे ही हाथ से नष्ट हो रहा है।

जीवातुसंस्कृतटीका—त्वेति । ईदृशबद्धमुष्टेरीदृक्कृपणस्य तव आर्तानां मुदे प्रीत्यै स्वजीवं ददद्भ्यः स्वप्राणव्ययेन परप्राणं कुर्वद्भ्यो जीमूतवाहनादिभ्य इत्यर्थ । जीवः=जीमूतवाहन इति प्रसिद्धम् । त्रपा नेति काकु अत्रापि मत्प्रत्यावृत्तिरूपत्वात्तदपेक्षया तेषामपादानत्वात् पञ्चमी । मदस्मान् मदीयानेवासून् प्राणान् मह्यमदित्सो तव कीर्त्या धौत शुद्धो धर्म करादस्ताद् भ्रश्यति, न चैतत्तवार्हमिति भाव ।

समासविग्रहादि—बद्धा मुष्टिर्येन स बद्धमुष्टि, ईदृशश्चासौ बद्धमुष्टि तस्य ईदृशबद्धमुष्टे । आर्तानां मुत् तस्यै आर्तमुदे। स्वस्य जीव तम् स्वजीवं। कीर्त्या धौत कीर्तिधौत । दातुमिच्छु दित्सु, न दित्सु तस्य अदित्सो ।

व्याकरण—ददद्भ्य =दा+लट् (शतृ)+भ्यस् । मदीयान्=अस्मद् +छ (ईय)+शस् । आर्त=आ+ऋ+क्त । मुदे=मुद्+क्विप् । त्रपा=त्रप् +अङ् (भावे)+टाप् । मदीयान्=अस्मद्+छ । धौत=धाव्+क्त ऊठ वृद्धि ।

विशेष—मुट्ठी बंधी हुई होने पर भी धर्म का गिरना बतलाया गया है, अत विरोध उपस्थित होता है। बद्धमुष्टि का अर्थ कृपण करने पर विरोध का परिहार होता है, इस प्रकार यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती के लिए नल प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं।

**ददात्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन ।**
**विधेहि तन्मा त्वदृणान्यशोद्धुमनुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥८६॥**

अन्वय—जीवदे त्वयि आत्मजीवं दत्वा अपि शुध्यामि, जीवाधिकदे तु केन शुध्यामि ? तत् त्वद् ऋणानि अशोद्धुम् माम् अनुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् विधेहि ।

शब्दार्थ—जीवद=जीवन दान देने वाले, त्वयि=तुमसे, (मैं), आत्मजीव=अपने प्राण, दत्वा अपि=देकर भी, शुध्यामि=शुद्ध (ऋणमुक्त) हो जाऊंगी। जीवाधिकदे=जीवन से अधिक देने पर, केन=किससे, शुध्यामि=शुद्ध (ऋणमुक्त होऊंगी) ? तत्=अतः, त्वदृणानि=तुम्हारे ऋणों से, अशोद्धुम्=मुक्ति न पाने के लिए, माम्=मुझे, अनुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम्=अपरिमित दारिद्र्य रूपी समुद्र में मग्न, विधे[हि]=कर दो ।

अनुवाद—जीवन दान देने वाले तुमसे मैं अपने प्राण देकर भी शुद्ध (ऋणमुक्त) हो जाऊंगी। जीवन से अधिक देने पर किससे शुद्ध (ऋणमुक्त)

होऊंगी, अत तुम्हारे ऋणों से मुक्ति न पाने के लिए मुझे अपरिमित दारिद्रय रूपी समुद्र मे मग्न कर दो।

**भावार्थ**—दमयन्ती हस से कहती है कि यदि तुम मुझे जीवनदान देते हो तो मैं अपने प्राण देकर ऋणमुक्त हो जाऊंगी, [क्योंकि समान वस्तु देकर बदला चुकाया जा सकता है]। किन्तु तुम मुझे मेरे प्राणो से भी अधिक प्रिय नल को दे देते हो, तो मैं तुम्हारे ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकूंगी। मैं तुम्हारे ऋण से मुक्ति न पा लू, अत मुझे दरिद्रता रूपी समुद्र मे डुबो दो अर्थात् मुझे नल को प्रदान कर सदैव के लिए अपना ऋणी बना लो।

**जीवातु सस्कृत टीका**—दत्त्वेति। किं च, जीवदे प्राणदे त्वयि विषये आत्मजीव मत्प्राण दत्त्वाऽपि शुध्यामि आनृण्य गमिष्यामीत्यर्थ। किन्तु जीवादधिक प्रिय तद्दे त्वयि केन शुध्यामि ? न केनापि, तत्तुल्यदेयवस्त्वभावादित्यर्थ। सम्प्रति प्राणे समम् तु न किञ्चिदस्तीति भाव। तत्तस्मादभावादेव मा त्वदृणेषु विषये अशोद्धुमऋणग्रस्ता भवितुमेव अमुद्रे अपरिमिते दारिद्रय त्वद्देयवस्त्वभावस्य तस्मिन्नेव समुद्रे। मग्ना विधेहि नल इष्टदानेन मामृणग्रस्ता कुर्वित्यर्थ। अशोद्धु मग्नामिति मग्नत्वानुवादेन अशुद्धिर्विधीयते दरिद्राणामृण मुक्तिर्नास्तीति भाव।

**समासविग्रहादि**—आत्मनो जीव आत्मजीव तम् आत्मजीव। तव ऋणानि तेषु त्वदृणेषु। न शोद्धुम् अशोद्धुम। अविद्यमाना मुद्रा यस्य स अमुद्र, दारिद्रयम् एव समुद्र अमुद्र श्चासौ दारिद्रय समुद्र तस्मिन् मग्ना ताम् अमुद्र-दारिद्रयसमुद्रमग्नाम्।

**व्याकरण**—जीवदे=जीव+दा+क+ङि। दत्त्वा=दा+क्त्वा। शुद्ध्यामि=शुध्+लट्+मिप्। विधेहि=वि+धा+लोट्+सिप्।
**विशेष**—इस पद्य मे रूपक अलङ्कार है। अमुद्र [मुद्रा रहित] तथा समुद्र [मुद्रा सहित] मे विरोध है। समुद्र का अर्थ सागर करने पर विरोधाभास अलङ्कार है। मुद्र मुद्र मे यमक अलङ्कार है, क्योंकि दोनो मुद्र के अर्थ भिन्न २ हैं।

**पूर्वाभास**—दमयन्ती हस से कहती है कि ख्याति तथा पुण्य के लिए ही तुम मेरा उपकार करो।

**क्रीणीष्वमज्जीवितमेवपण्यमन्यन्न चेद्वस्तु तदस्तु पुण्यम्।**
**जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥८७॥**

अन्वय—हे जीवेशदात ! मज्जीवितम् एव पण्य क्रीणीष्व, अन्यद् वस्तु

न चेत् [तर्हि] पुण्यम् अस्तु, ते दातुं न प्रभवामि (चेत्) तावत् यशः अपि गातुं प्रभवामि।

शब्दार्थ—हे जीवेशदातः=हे प्राणेश्वर (नल) को देने वाले! मज्जीवितम्=मेरे जीवन को, एव=ही, पण्य=क्रेय वस्तु के रूप में, क्रीणीष्व=खरीद लो। अन्यत्=दूसरी, वस्तु न चेत्=वस्तु नहीं होगी (तर्हि=तो), पुण्यम् अस्तु=पुण्य ही हो, ते दातुं=तुम्हें देने में, न प्रभवामि (चेत्)=यदि मैं समर्थ नहीं हूँ, तावत्=तो, यशः अपि=यश को, गातुं प्रभवामि=गाने में समर्थ होऊँगी।

अनुवाद—हे प्राणेश्वर (नल) को देने वाले! मेरे जीवन को ही क्रेय वस्तु के रूप में खरीद लो। दूसरी वस्तु नहीं होगी तो पुण्य ही हो। तुम्हें देने में यदि मैं समर्थ नहीं हूँ तो यश को गाने में समर्थ होऊँगी।

भावार्थ—दमयन्ती हंस से कहती है कि तुम मेरे प्राणेश्वर नल को देने वाले हो अतः तुम्हें मेरा जीवन ही समर्पित है। मुझे क्रय करने में तुम्हें यदि और कुछ लाभ नहीं होगा तो पुण्य तो होगा ही। भले ही मैं तुम्हें कुछ देने में असमर्थ हूँ, किन्तु तुम्हारा यशोगान तो कर सकती हूँ।

जीवातु संस्कृत टीका—क्रीणीष्वेति। हे जीवेशदातः प्राणेश्वरद! मज्जीवितमेव पण्यं क्रेयं वस्तु क्रीणीष्व, जीवेशरूपमूल्यदानेन स्वीकुरुष्वेत्यर्थः। अस्यदेतन्मूल्यानुरूपं वस्त्वन्तरं नास्ति चेत्तर्हि पुण्यं सुकृतमस्तु, किञ्चिद्यदि ते तुभ्यं दातुं न प्रभवामि न शक्नोमि तावत्तर्हि यशोऽपि कीर्तिं गातुं प्रभवामि, ख्यातिमुत्पादयन्नेवोपकुरुष्वेत्यर्थः।

समासविग्रहादि—जीवस्य ईशः, तस्य दाता जीवेशदाता, तत्सम्बुद्धौ जीवेशदातः। मम जीवितं तत् मज्जीवितम्।

व्याकरण—जीवितम्=जीव्+क्त। पण्यम्=पण्+यत्।

विशेष—जीवन पर इस पद्य में पण्यत्व का आरोप किया गया है, अतः रूपक अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती हंस से कहती है कि तुम सज्जन होने के कारण मेरा उपकार करो।

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्यान्नेभ्यः कृतज्ञानयनयाऽऽद्रियन्ते।
प्राणं पणं स्वं निपुणं भणन्तः क्रीडन्ति तानेव तु हन्त! सन्तः।८८।

अन्वय—वराटिकोपक्रियया अपि लभ्यान् कृतज्ञान् इभ्या न आद्रियन्ते। हन्त ! सन्त तु स्व निपुण भणन्त तान् एव प्राणै पणै क्रीणन्ति।

शब्दार्थ—वराटिकोपक्रियया=कौडी मात्र के उपकार द्वारा, अपि=भी, लभ्यान्=प्राप्त होने वाले, कृतज्ञान्=कृतज्ञ व्यक्तियो का, इभ्या=धनी लोग, न आद्रियन्ते=आदर नही करते है। सन्त तु=सज्जन लोग तो, स्व=अपने आपको, निपुण भणन्त=निपुण कहते हुए, तान् एव=उन्हे ही, प्राणै=प्राण रूप, पणै=मूल्यो से, क्रीणन्ति=खरीद लेते है।

अनुवाद—कौडी मात्र का उपकार करके भी प्राप्त होने वाले कृतज्ञ व्यक्तियो का धनी लोग आदर नही करते है। सज्जन लोग तो अपने आपको निपुण कहते हुए उन्हे ही प्राणरूप मूल्यो से खरीद लते हैं।

भावार्थ—जिनमे कृतज्ञता गुण होना है, उनका थोडा भी उपकार किया जाय तो भी वे सुलभ हो जात है, किन्तु धनी व्यक्ति (धन को ही महत्त्व दन के कारण) उनका आदर नही करते हैं। सज्जन लोग कृतज्ञ व्यक्तियो को खरीद लेते हैं, चाहे भले ही इनके लिए उन्हे प्राणो का ही मूल्य क्यो न देना पडे। दमयन्ती हस को सज्जन स्वभाव वाला समझती है। अत उसमे उपकार की अपेक्षा करती है।

जीवातु सस्कृत टीका—अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकार कुर्वित्याह-वराटिकेति। वराटिकोपक्रियया कपर्दिकादानेनाऽपि लभ्यान् कृतज्ञान् तावदेव बहु-मन्यमानान् उपकारज्ञान् इभ्या धनिका, 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी' त्यमर। नाद्रियन्ते धनलोभान्नोपकुर्वन्तीत्यर्थ। सन्तो विवेकिनस्तु स्वात्मान निपुण भणन्त, सन्त एते वय त्वदधीना इति साधु वदन्त इत्यर्थ। तानेव कृतज्ञान् प्राणैरेव पणै क्रीडन्ति आत्मसात्-कुर्वन्ति, निपुणजनैरित्यर्थ। अतस्त्वया अपि सता कृतज्ञाऽमुप-कर्तव्येति भाव। हन्त हर्षे।

समासविग्रहादि—वराटिकाया उपक्रिया तया वराटिकोपक्रियया। कृत जानन्तीति कृतज्ञा तान् कृतज्ञान्। इभम् अर्हन्तीति इभ्या।

व्याकरण—कृतज्ञान्=कृत+ज्ञा+क+शस्। आद्रियन्ते=आङ्+दृङ्+लट्+झ। सन्त=अस्+लट् (शतृ)+जस्। भणन्त=भण+लट् (शतृ)+जस्। क्रीणन्ति=क्रीञ्+लट्+झि।

विशेष—इस पद्य मे प्राण पर पण्यत्व का आरोप करने से रूपक अलङ्कार है।

पूर्वाभास—नल स्वरपालो के अश से उत्पन्न है—

स भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे यदेकाग्रधियः प्रसेदे।
न हीतरस्माद् घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाभूः ॥८६॥

अन्वय—स भूभृत् अष्टौ अपि लोकपाला । तदेकाग्रधियो मे तै प्रसेदे। इतरस्मात् स्वम एत्य मम तदाप्तिप्रतिभूः अभूः यत्, तद् न घटते हि।

शब्दार्थ—सभूभृत्=वे राजा नल, अष्टौ अपि=आठो, लोकपाला=लोकपालस्वरूप है। तदेका ग्रधियो=उनमे एकाग्र बुद्धि रखने वाले, मे=मेरे ऊपर, तै प्रसेदे=वे प्रसन्न है, इतरस्मात्=नही तो स्वयम एत्य=स्वयं आकर, मम=मेरे तदाप्ति प्रतिभूः=उस नल की प्राप्ति के लिए तुम प्रतिभू (जामिन), अभूः=हो गए हो, यत् तत् न घटते हि=वह घटित नही होता।

अनुवाद—वे राजा नल आठो लोकपालस्वरूप है। उनमे एकाग्रबुद्धि रखने वाले मेरे ऊपर वे प्रसन्न है, नही तो स्वयं आकर जो तुम उस नल की प्राप्ति के लिए जामिन हो गए हो, वह घटित नही होता।

भावार्थ—प्राचीन काल में यह मान्यता थी कि राजा आठ लोकपालो के अंशो से उत्पन्न होता है। दमयन्ती की मान्यतानुसार राजा नल भी आठ लोकपालो के अंश है। नल का एकाग्रमन से ध्यान करने से वे लोकपाल प्रसन्न है। यदि यह बात न होती तो हंस स्वयं आकर उस नल की प्राप्ति के लिए प्रतिभू न बनता।

जीवातुसंस्कृतटीका—स इति। किञ्च स भूभृत् नल अष्टावपि लोकपाला तदात्मक इत्यर्थ। 'अष्टाभि लोकपालाना मात्राभिर्निर्मितो नृपः' इति स्मरणात्। अतएव तदेकाग्रधियो [illegible] तदेकाग्रबुद्धे मे मम तैर्लोकपालैः प्रसेदे=प्रसन्नभाव स्थितं। देवताध्यायी प्रसन्न [illegible] निभाव। कुत ? इतरस्मात् प्रसादादन्यथेत्यर्थः। स्वयं स्वयमेवागत्य मम तदाप्ति [illegible] तदवाप्तिलग्न को ऽभूरिति यत् तन्न घटते हि। तत्प्रसादाभावे कुतो मम दैवं [illegible] इत्यर्थ।

समासविग्रहादि—भुव बिभर्तीति भूभृत्। लोकं पालयन्तीति लोकपाला। एका.ग्रा धीर्यस्या सा एकाग्रधी, तदेकाग्रधी तस्या। प्रतिभवतीति प्रतिभू।

व्याकरण—भूभृत्=भू+भृ+क्विप्। लोकपाला=लोक+पाल+अच्। प्रसेदे—प्र+सद्+लिट्+त। प्रतिभू—प्रति+भू+क्विप्। अभू=भू+लुङ्+सिप्। घटते=घट्+लट्+त।

विशेष—इस पद्य में हंस पर प्रतिभूत्व का आरोप है, अतः रूपक अलङ्कार है हंस के स्वयं आकर प्रतिभूत्व ग्रहण करने से लोकपालों की प्रसन्नता का अनुमान लगाया गया है, अतः अनुमान अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती को विश्वास है कि नल उसके हृदय पर चन्दन-लेपने का कार्य करेगा।

**अकाण्डमेवात्मभुवार्जितस्य भूत्वाऽपि मूलं मयि वीरणस्य।**
**भवान्मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥९०॥**

अन्वय—अकाण्डम् एव आत्मभुवा अर्जितस्य मयि रणस्य मूलं भूत्वा अपि किं भवान् नलदत्वम् एत्य मे हृदः चन्दनलेपकृत्यम् न कर्ता किम् ?

शब्दार्थ—अकाण्डम् एव=बिना अवसर के ही, आत्मभुवा=कामदेव के द्वारा, मयि=मेरे विषय में, अर्जितस्य=किए गए, रणस्य=युद्ध के (अथवा शब्द के) मूलं=कारण, भूत्वाऽपि=होकर भी, अकाण्ड=दण्डरहित, आत्मभुवा=ब्रह्मा के द्वारा, अर्जितस्य=रचे गए, वीरणस्य=वीर तृण के मूलं=मूल अवयव, भूत्वा=होकर, नलदत्वं=नल को देने के भाव को, [उशीरपने को=खसखस रूप को] एत्य=प्राप्त करके, हृदः=हृदय के, चन्दनलेपकृत्यं=चन्दन के लेप के कार्य को, न करिष्यसि=नहीं करोगे ? अर्थात् अवश्य करोगे।

अनुवाद—असमय में ही कामदेव के द्वारा मेरे विषय में किए गए युद्ध के मूल कारण होकर भी नल को प्रदान करने के भाव को प्राप्त करके [हे हंस तुम] हृदय के चन्दन के लेप के कार्य को नहीं करोगे ? अर्थात् अवश्य करोगे।

दण्डरहित ब्रह्मा के द्वारा रचे गये वीरतृण के मूल अवयव होकर खसखस रूप को प्राप्त करके (तुम मेरे) हृदय के चन्दन के लेप के (से) कार्य को नहीं करोगे ? अर्थात् अवश्य करोगे।

भावार्थ—दमयन्ती हंस से कहती है कि तुमने असमय में मेरे हृदय में कामदेव के द्वारा द्वन्द्व उत्पन्न करा दिया है, तथापि तुम यदि नल को प्रदान कर देते हो तो नल की प्राप्ति मेरे हृदय पर चन्दन के लेप के समान सुखदायी होगी। मुझे विश्वास है कि यह कार्य तुम अवश्य करोगे।

अथवा जिस प्रकार ब्रह्मा के द्वारा उत्पादित वीरतृण का मूल अवयव उशीरपने को प्राप्त होकर चन्दन के लेप के समान हृदय को सुखदायी होता है,

इसी प्रकार तुम भी नल को प्रदान करने रूप खस के लेपन द्वारा चन्दन के लेप का कार्य करोगे ।

जीवातु संस्कृत टीका—अकाण्डेति । हे हंस ! विपक्षी 'विकिर पतत्त्रिण' इत्यमर । रोरी' ति रेफलोपे 'ढ्लोपे पूर्वस्ये' ति दीर्घ । मम अकाण्डमनवसर एव अत्यन्त संयोगे द्वितीया' आत्मभुवा कामेन मयि विषये ईरितस्य कृतस्य रणस्य गाढप्रहारलक्षणस्य मूल हंसानामुद्दीपकत्वेन निदान इत्यर्थ अन्यत्र काण्डो दण्ड तद्वर्जितमकाण्ड यथा तथा आत्मभुवा ब्रह्मणा ईरितस्य वीरणस्य तृणविशेषस्य मूल मूलावयवो भूत्वा अत एव नलदत्वमुपगच्छन् । अन्यत्र उशीरत्व चेत्यर्थ । हृद चन्दनलेपकृत्य शैत्योत्पादन न कर्ता कथिष्यसे परोपकारशीलत्वादिति भाव । काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु' इत्यमर । वीरणं वीरतरमूलस्योशीरमस्त्रियाम् । अभय नलद सेव्यमि' ति चामर । वीरणस्येति शब्दश्लेष । अन्यत्रार्थश्लेष । तथा च नलदत्वमेत्य चेति प्रकृताप्रकृतयोरभेदाध्यवसायेन हंसे आरोप्यमाणस्योशीरस्य प्रकृत्या तादात्म्येन चन्दनकृत्यलक्षणकार्योपयोगात् परिणामालङ्कार । आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इति लक्षणात्, स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बोत्थापित इति सङ्कर ।

समासविग्रहादि—काण्डस्य अभाव तद् यथा तथा अकाण्ड । आत्मना भवतीति आत्मभू तेन आत्मभुवा । नल ददातीति नलद, नलदस्य भाव नलदत्व । चन्दनस्य लेप चन्दनलेप तस्य कृत्यम् चन्दनलेपकृत्य ।

व्याकरण—एत्य=आङ् + इण् + क्त्वा (ल्यप्), कर्ता=कृ + तृच् + तिप् । आत्मभू=आत्मन् + भू + क्विप् । कृत्यम्=कृ + क्यप् (तुक् का आगम)।

विशेष—इस पद्य मे 'अकाण्डम' 'आत्मभुवा' 'मूलम्' 'वीरणस्य' 'नलदत्वम्' मे श्लेष अलङ्कार है । हंस नलद बनकर प्रकृत मे चन्दनलेप के उपयोग मे आता है, अत परिणामालङ्कार है ।

पूर्वाभास—दमयन्ती हंस से विलम्ब न करने हेतु कहती है ।

अल विलम्ब्य त्वरितु हि वेला कार्ये किल स्थैर्यसहे विचार ।
गुरूपदेश प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमर्ति ॥६१॥

अन्वय—(हे हंस !) विलम्ब्य अल, हि त्वरितु वेला । स्थैर्यसहे कार्ये विचार किल । तीक्ष्णा प्रतिभा गुरूपदेशम् इव अर्ति जातु कालं न प्रतीक्षते ।

शब्दार्थ —[हे हंस!] विलम्ब्य अल=विलम्ब मत करो, हि त्वरितु = निश्चित रूप से शीघ्रता करने की, वेला=वेला है। स्थैर्यसहे=विलम्ब सहने वाले, कार्ये=कार्य मे, विचार किल=विचार किया जा सकता है। तीक्ष्णा= तीक्ष्ण, प्रतिमा =प्रतिमा, गुरूपदेशम् इव=गुरु के उपदेश के समान, अर्ति = पीडा, जातु=कभी भी, काल न प्रतीक्षते=समय की प्रतीक्षा नहीं करती है।

अनुवाद—हे हंस! विलम्ब मत करो, निश्चित रूप से शीघ्रता करने की वेला है। विलम्ब सहने वाले कार्य मे विचार किया जा सकता है। तीक्ष्ण प्रतिमा गुरु के उपदेश के समान पीडा कभी भी समय की प्रतीक्षा नहीं करती है।

भावार्थ—जिस प्रकार तीव्र प्रतिमा वाला व्यक्ति गुरु के उपदेश की प्रतीक्षा नहीं करता है, उसी प्रकार तीव्र पीडा कभी भी समय की प्रतीक्षा नहीं करती है। अत हे हंस! तुम्हें विलम्ब नहीं करना चाहिए। यह शीघ्र कार्य सम्पन्न करने का समय है। जो कार्य देर से हो सकता हो, उनके विषय से लोग विचार करते हैं। शीघ्र करने योग्य कार्य के विषय मे विचार नहीं करते हैं।

जीवातु संस्कृत टीका—अलमिति। हे हंस! विलम्ब्यालं न विलम्बितव्यमित्यर्थः। 'अलङ्खल्वो[illegible]' इति क्त्वा प्रत्यये ल्यबादेशः। त्वरितु वेला हि त्वराकाल खल्वयमित्यर्थः। '[illegible] समयवेलासु तुमुन्' [illegible] स्थैर्यसहे विलम्बसहे कार्ये विचारो विमर्शः [illegible], अन्यथा विपत्स्यत इति भावः तथाहि तीक्ष्णा शीघ्रग्राहिणी प्रतिमा गुरूपदेशमिव आर्तिराधिर्जातु कदापि कालं न प्रतीक्षते, कालक्षेपं न सहत इत्यर्थः। उपमार्थान्तरन्यासयो संसृष्टि।

समासविग्रहादि—स्थैर्यं सहत इति स्थैर्यसह तस्मिन् स्थैर्यसहे। गुरोरुपदेश तम् गुरूपदेशम्।

व्याकरण—विलम्ब्य—वि+लवि+क्त्वा (ल्यप्), त्वरितु =त्वरा +तुमुन्। प्रतीक्षते=प्रति+ई[illegible]+लट्+तिप्।

विशेष—इस पद्य मे उपमा तथा अर्थान्तरन्यास अलङ्कार की संसृष्टि है।

पूर्वाभास—हंस किस समय नल से दमयन्ती के विषय मे न कहे।

अभ्यर्थनीयः स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम्।
प्रिया ऽऽस्यदाक्षिण्य बलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेध ॥९२॥

अन्वय—(हे हंस!) गतेन त्वया स राजा शुद्धान्तगत (सन्) मदर्थं न अभ्यर्थनीय। हि तदा प्रिया ऽऽस्यदाक्षिण्यबलात्कृत अन्यवधूनिषेध उदयेत्।

शब्दार्थ—(हे हंस !) गतेन त्वया=गए हुए तुम्हें, स राजा=उन राजा नल से, शुद्धान्तगत (सन्)=यदि वे अन्तःपुर में गए हुए हों, तो मदर्थ=मेरे लिए, न अभ्यर्थनीय =प्रार्थना नहीं करना चाहिए। हि=निश्चित रूप से, तदा=तब प्रिया ऽऽस्यदाक्षिण्यबलात्कृत =प्रियतमाओं के मुख देखने से उत्पन्न शिष्टाचार के अनुरोध से, अन्यवधूनिषेध =अन्य स्त्री के प्रति उनका निषेध, उदयेत्=उदित हो सकता है।

अनुवाद—हे हंस ! गए हुए तुम्हें उन राजा नल से यदि वे अन्तःपुर में गए हुए हों तो मेरे लिए प्रार्थना नहीं करना चाहिए। निश्चित रूप से तब प्रियतमाओं के मुख देखने से उत्पन्न शिष्टाचार के अनुरोध से अन्य स्त्री के प्रति उनका निषेध उदित हो सकता है।

भावार्थ—दमयन्ती ने हंस को सलाह दी है कि जब तुम नल के पास मेरा सन्देश लेकर जाओ, उस समय यदि वे अपने अन्तःपुर में हों तो उनसे मेरे लिए प्रार्थना मत करना। हो सकता है [illegible] [illegible] के सम्मुख सकोचवश वे मुझे स्वीकार करने से मना कर दें।

जीवातु संस्कृत टीका—अथानन्तरकृत्यं सविशेषमुपादिशति [illegible] इत्यादि श्लोकपञ्चकेन। गतवतो यातेन त्वया स राजा नलः शुद्धान्तगतः [illegible] पुरस्थोऽमदर्थं मत्प्रयोजनं नाभ्यर्थनीयो न वाच्यः, [illegible] [illegible] 'अप्रधाने दुहादीनामि [illegible] [illegible] [illegible] ? हि यस्मात्तदा तस्मिन् काले प्रियाणां आस्यदाक्षिण्य मुखावलोकनोत्पन्नच्छन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थः। तेन बलात् कृता बलात्प्रवर्तिता अन्यवधूनिषेध [illegible] स्यात्।

समासविग्रहादि—शुद्धान्तं गतः शुद्धान्तगतः। मह्यम् इदम् यदा तदा मदर्थम्। प्रियाणाम् आस्यानि तेषां दाक्षिण्यं तेन बलात्कृतः प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्यबलात्कृत,। अन्या चासौ वधू, तस्याः निषेधः अन्यवधूनिषेध।

व्याकरण—उदयेत्=उद्+इ+विधिलिङ्+ति। अभ्यर्थनीय=अभि+अर्थ+णिच्+अनीयर।

विशेष—इस पद्य में अन्य स्त्रियों के सामने प्रणयनिवेदन न करने हेतु बताया गया है, और काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततुष्टे न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम्।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥६३॥

अन्वय—(हे हंस) शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते नैषधे इद कार्यं न निगाद्यम् । अपा तृप्ताय स्वादु सुगन्धि तुषारा वारिधारा न स्वदते हि ।

शब्दार्थ—(हे हंस) शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते=अन्त पुर की स्त्री के साथ सम्भोग करने से नितान्त तृप्त हुए, नैषधे=नल से, इद कार्य=इस कार्य के विषय मे, न निगाद्यम्=मत कहना । अपा=जल से, तृप्ताय=तृप्त व्यक्ति के लिए, स्वादु=स्वादयुक्त, सुगन्धि+अच्छी गन्ध वाले, तुषारा=शीतल, वारिधारा=जल की धारा, न स्वदते हि=रुचिकर नही लगती है ।

अनुवाद—अन्त पुर की स्त्री के साथ सम्भोग करने से तृप्त हुए नल से इस कार्य के विषय मे मत कहना । जल से तृप्त व्यक्ति के लिए स्वादयुक्त, अच्छी गन्ध वाले शीतल जल की धारा रुचिकर नही लगती है ।

भावार्थ—यदि नल अन्त पुर की स्त्री के साथ सम्भोग कर तृप्त हो गए हो तो उस समय उनसे मेरे विषय मे मत कहना । जो व्यक्ति जल को पीकर तृप्त हो चुका है, उसको जिस प्रकार सुगन्धयुक्त तथा स्वादिष्ट शीतल जल की धारा अच्छी नही लगती है वैसे ही हो सकता है, उस समय नल को मेरे मिलन की बात अच्छी न लगे ।

जीवातुसंस्कृतटीका—शुद्धान्तेति । किञ्च शुद्धान्तसम्भोगेन अन्त पुर स्त्रीसम्भोगेन नितान्ततृप्ते अत्यन्तसन्तुष्टे नैषधे नलविषये इद कार्य न निगदितव्यम् 'ऋहलोर्ण्यत्' 'गदमद' इत्यादिना रोपसर्गाद्यतो निषेधात् । यथाहि अपा तृप्ताय अद्भिस्तृप्तायेत्यर्थ । पूरणगुणे इत्यादिना षष्ठीसमासनिषेधादेव ज्ञापकात् षष्ठी 'रुच्यर्थाना प्रीयमाण' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी, स्वादुमधुरा सुगन्धि कर्पूरादिवासना शोभनगन्धा । अत्र कवीना निरङ्कुशत्वनियमानादर । तुषारा शीतला वारिधारा न स्वदते न रोचते हि । दृष्टान्तालङ्कार ।

समासविग्रहादि—शुद्धान्तस्य सम्भोग शुद्धान्तसम्भोग, नितान्त यथा तथा तृप्त नितान्ततृप्त, शुद्धान्तसम्भोगेन नितान्त तृप्त तस्मिन् इति शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते । शोभन गन्धो यस्या सा सुगन्धि ।

व्याकरण—निगाद्यम्=नि+गद्+ण्यत् । स्वदते=स्वद+लट्+त ।

विशेष—इस पद्य मे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध मे परस्पर बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने के कारण दृष्टान्त अलङ्कार है ।

पूर्वाभास—यदि नल क्रोध की स्थिति मे हो तो भी दमयन्ती का प्रणय निवेदन हंस को नही करना चाहिए ।

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य।
पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस ! ॥६४॥

अन्वय—हे हंसकुलावतंस ! नैषधस्य हृदि क्रुधा कदुष्णे (सति) मदर्था गिरो न विज्ञापनीया। पित्तेन दूने रसने सिता अपि तिक्तायते॥

शब्दार्थ—हे हंसकुलावतंस=हे हंस कुल के आभूषण ! नैषधस्य=नल का, हृदि=हृदय, क्रुधा=क्रोध से, कदुष्णे (सति)=कुछ उष्ण हो तो, मदर्था=मेरे लिए, गिरो=प्रार्थना वचन का, न विज्ञापनीया=निवेदन मत करना। पित्तेन=पित्त से, दूने=दूषित हुई, रसने=रसना इन्द्रिय को, सिता अपि=चीनी भी तिक्तायते=तीखी लगती है।

अनुवाद—हे हंसकुल के आभूषण ! नल का हृदय क्रोध से कुछ उष्ण हो तो मेरे लिए प्रार्थनावचन का निवेदन मत करना। पित्त से रसना इन्द्रिय के दूषित होने पर चीनी तीखी लगती है।

भावार्थ—जिस प्रकार पित्त के दोष से युक्त व्यक्ति को मीठी चीनी भी कड़ुवी लगती है, उसी प्रकार नल यदि क्रोध की स्थिति में होगा तो उसे तुम्हारी बात अच्छी नहीं लगेगी। अत तुम उस समय मेरी ओर से निवेदन मत करना।

जीवातुसंस्कृतटीका—विज्ञापनीया इति। हे हंसकुलावतंस ! नैषधस्य हृदि हृदये क्रुधा कोपेन कदुष्णे ईषदुष्णे 'कवं चोष्णे' इति चकारात् कोः कदादेशः। मदर्था इमा मदर्थाः 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या' गिरो वाचो न विज्ञापनीया न निवेद्या न विज्ञाप्या इत्यर्थः। तथाहि पित्तेन पित्तदोषेण दूने दूषिते रसने रसनेन्द्रिय सिता शर्कराऽपि तिक्तायते तिक्तीभवति लोहितादित्वात् क्यष्, 'वा क्यष' इति आत्मनेपदम्। दृष्टान्तालङ्कारः।

समासविग्रहादि—[illegible] नलसमुद्रो हंसकुलावतंस, [illegible] इमा मदर्था।

व्याकरण—[illegible] अ+म। [illegible]

विशेष—[illegible] है।

[illegible] हुआ हो तब भी हंस [illegible] चाहिए।

**धरातुरासाहि मदर्थ याच्ञा कार्या न कार्यान्तर चुम्बिचित्ते ।**
**तदाऽर्थितस्या ऽनवबोधनिद्रा विभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥९५**

अन्वय—(हे हंस !) धरातुरासाहि कार्यान्तरचुम्बिचित्ते सति मदर्थ-याच्ञा न कार्या (तथा हि) तदा अर्थितस्य अनवबोधनिद्रा अवज्ञाऽऽचरणस्य मुद्रां बिभर्ति।

शब्दार्थ—(हे हंस !) धरातुरासाहि=पृथ्वी के इन्द्र (नल के), कार्यान्तरचुम्बिचित्ते सति=किसी दूसरे काम में लगे रहने पर, मदर्थयाच्ञा=मेरे लिए प्रार्थना, न कार्या=नहीं करना चाहिए, (तथाहि=क्योंकि) तदा=तब, अर्थितस्य=प्रार्थना किए गए व्यक्ति की, अनवबोधनिद्रा=नींद में जैसे होने वाली अनवधानता (लापरवाही) अवज्ञाऽऽचरणस्य=तिरस्कार भरे व्यवहार [illegible] को, [illegible] करती है।

अनुवाद— हंस ! पृथ्वी के इन्द्र (नल के) किसी दूसरे कार्य में लगे रहने पर मेरे लिए [illegible] ना नहीं करना चाहिए, क्योंकि तब प्रार्थना किए गए व्यक्ति की नींद [illegible] होने वाली लापरवाही तिरस्कार भरे व्यवहार के चिन्ह को धारण करती है।

भावार्थ— जिस प्रकार नींद लेते समय व्यक्ति में असावधानी हो जाती है तथा उसमें अहंकार या तिरस्कार भी [illegible] आता है। इसी प्रकार जिससे याचना की जाय उस व्यक्ति को किसी दूसरे कार्य में नहीं लगा होना चाहिए नहीं तो उसके द्वारा याचना करने वाले व्यक्ति के तिरस्कार की सम्भावना रहती है। नल भी यदि अन्य कार्य में लगा हुआ हो तो उस समय हंस को उससे याचना नहीं करना चाहिए।

जीवातु संस्कृत टीका —धरेति। तुर [illegible] धरातुरासाहि भूदेवेन्द्रे नले अजादिषु [illegible] कार्यान्तरचुम्बिचित्ते व्यासक्तचित्ते मदर्थयाच्ञा [illegible] न कार्या तथाहि—तदा [illegible] अर्थितस्य [illegible] निद्रा [illegible] ऽऽचरणस्य अनादरकरणस्य मुद्रामभिज्ञानं बिभर्ति, [illegible] नच्चानिष्टमिति भावः।

जीवातु संस्कृत टीका—विज्ञेनेति। तस्मात् कारणाद् विज्ञेन विवेकिना त्वया समय समीक्ष्य इद कार्यमस्मिन् नले विषये विज्ञाप्यम्। विलम्ब स्यादित्याशङ्क्याह—आत्यन्तिकेति। हे हस ! कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धि–विलम्बसिद्धयोर्मध्ये आर्यस्य विदुषस्ते का कतरा शुभा समीचीना विभाति ? अनवसरविज्ञापने कार्यविघातादर विलम्बेनेनापि कार्यसाधनमिति भाव ।

समासविग्रहादि —आत्यन्तिकी चासौ असिद्धि आत्यन्तिकासिद्धि विलम्बेन सिद्धि विलम्बसिद्धि आत्यन्तिकासिद्धिश्च विलम्बसिद्धिश्च आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्धी तयो आत्यन्तिकासिद्धि विलम्बिसिद्धयो ।

व्याकरण—विज्ञेन = वि + ज्ञा + क + टा । समीक्ष्य = सम् + ईक्ष + क्त्वा + ल्यप । विज्ञाप्य = वि + ज्ञा + णिच् + क्त्वा (यत) आर्यस्य = ऋ + ण्यत् ङस् । विभाति = वि + भा + लट् + तिप् ।

विशेष—इस पद्य में कार्यस्य का उपयस्य में समक अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती के लज्जा परित्याग का कारण कवि बतलाता है—

**इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा सानौचिती चेतसि नश्चकास्तु ।**
**स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥६७॥**

अन्वय—इति उक्तवत्या (तया) यत लज्जा अलोपि, सा अनौचिती न चेतसि चकास्तु तु तददोषतायां स्मर साक्षी। य ताम् उन्माद्य तत् अवीवदत्।

शब्दार्थ—इति उक्तवत्या=ऐसा कहने वाली, (तया=उसने), यत्=जो, लज्जा आलोपि=लज्जा का परित्याग किया, सा अनौचिती=वह अनौचित्य, न=हमारे, चेतसि=चित्त में, चकास्तु=प्रकाशित हो, तु=किन्तु, तददोषतया=दमयन्ती की निर्दोषता में, स्मर=कामदेव, साक्षी=साक्षी है, य=जिस कामदेव ने, ताम्=उसे, उन्माद्य=उन्मत्त कर, तत् अवीवदत्=वे बातें बतला दी।

अनुवाद—ऐसा कहने वाली उसने जो लज्जा का परित्याग किया, वह अनौचित्य मने ही हमारे चित्त में प्रकाशित हो, किन्तु दमयन्ती की निर्दोषता में कामदेव साक्षी है, जिसने उसे उन्मत्त कर वे बातें बतला दी।

भावार्थ—नल के विषय में अपनी आसक्ति को बतलाने में दमयन्ती ने लज्जा छोड़ दी, ऐसा करना हमारे मन में भले ही अनुचित लगे, क्योंकि विवाह

अनुवाद—प्रथम महादेव काम से स्पर्द्धा के कारण उन्मत्त पुष्प (धतूरे के फूल) को और दूसरा कामदेव विरह की मानसिक व्यथा से दुःखी उन्मत्त को पाकर (इस प्रकार) दोनों ही असीम आनन्द को धारण करते हैं।

भावार्थ—कामदेव दमयन्ती से क्यों उन्मादी चेष्टा कराता है, इसका कारण कवि ने यहाँ बतलाया है कि कामदेव उन्मत्त को पाकर आनन्दित होता है। महादेव भी चूँकि कामदेव से स्पर्द्धा करता है, अतः वह भी उन्मत्त पुष्प (धतूरे के फूल) को पाकर आनन्दित होता है।

जीवातुसंस्कृतटीका—कामो वा किमर्थमेव कारयतीत्याशङ्क्य तस्यायं निसर्गो यदुन्मत्तेन प्रीतिरिति समष्टान्तमाह—उन्मत्तमिति। हर स्मरश्च द्वावपि उन्मत्तमासाद्य असीमां दुःखा मुदमूहेन दधतु। वहे स्वरितत्वादात्मनेपदम्। किन्तु तत्र निर्देशक्रमात् पूर्वो हरः स्मरस्पर्द्धिनया स्मरद्वेषितया प्रसून धुत्तूरकुसुम तस्यायुधत्वेति भावः। अपरस्तु द्वितीय स्मरस्तु विरहाधिदून विरहव्यथातुरस्थ मुन्मादावस्थापन्नमित्यर्थः। अत्र दीपकालङ्कारः। 'उन्मत्त उन्मादवति धुत्तूरमुचुकुन्दयोरिति विश्व। उभयोरभेदाध्यवसायात् समानधर्मत्वविशेषणबलात् श्लेषा प्रकृताप्रकृत गोचरत्वाच्च उभयश्लेष तत हरवत् स्मरोऽपि उन्मत्तप्रिय इति उपमा गम्यते।

समासविग्रहादि—स्मर स्पर्द्धते तच्छील स्मरस्पर्द्धी स्मरस्पर्द्धिनो भाव स्मरस्पर्द्धिता तया स्मरस्पर्द्धितया। विरहेण आधि, तेन दून तम् विरहाऽऽधिदूनम्। अविद्यमाना सीमा यस्या सा असीमा ताम् असीमाम्।

व्याकरण—हर = हृ + अच्। आसाद्य— आङ् + सद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्), उद्वहेते = उद् + वह + लट् + आताम।

विशेष—यहाँ उन्मत्त शब्द में श्लेष है। हर के समान कामदेव भी उन्मत्त प्रिय है, इस प्रकार यहाँ उपमा गमित होती है।

पूर्वाभास—दमयन्ती को नल के प्रति आसक्त देखकर हंस बोला।

**तया ऽभिधात्रीमथ राजपुत्री निर्णीय ता नैषधबद्धरागाम्।**
**अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूप ॥६६॥**

अन्वय—अथ तया अभिधात्री ता राजपुत्री नैषधबद्ध रागा निर्णीय तेन विहायसा विहस्य भूप चञ्चूपुटमौनमुद्रा अमोचि।

शब्दार्थ—अथ=अनन्तर, तथा=उस प्रकार, अभिधात्री=कहने वाली, ता राजपुत्रीम् =उस राजपुत्री को, नैषधबद्धरागा=नल के प्रति अनुराग में बद्ध, निर्णीय=निर्णय कर, तेन=उस, विहायसा=पक्षी ने, विहस्य=हँसकर, चञ्चुपुटमौनमुद्रा=चोंच की मौन मुद्रा, अमोचि=खोल दी।

अनुवाद—अनन्तर उस प्रकार कहने वाली उस राजपुत्री को नल के प्रति आसक्ति से युक्त निश्चित कर उस पक्षी ने हँसकर चोंच की मौन मुद्रा खोल दी।

भावार्थ—जब हंस ने अच्छी तरह जान लिया कि दमयन्ती नल के प्रति आसक्त है तब वह बोला।

जीवातुसंस्कृतटीका—तथेति। तथा अभिधात्री ता राजपुत्री भैमी निषधे नले बद्धरागा निर्णीय तेन विहायसा विहगेन विहस्य नृप चञ्चुपुटस्य मौन-मुद्रा निवचनत्वममोचि अवादीदित्यर्थ।

समासविग्रहादि—अभिदधातीति अभिधात्री ताम् अभिधात्रीम्। नैषधे बद्धरागा ता नैषधबद्धरागा। चञ्च्वो पुटम मौनस्य मुद्रा मौनमुद्रा, चञ्च्वो पुटस्य मौनमुद्रा चञ्चुपुटमौनमुद्रा।

व्याकरण—अभिधात्रीम् =अभि+धा=तृ+ङीप्। अमोचि=मुच्+लुङ् (कर्मवाच्य)। निर्णीय=निर्+णीञ्+क्त्वा[ल्यप्]।

विशेष—यहाँ विहायसा और विहस्य में छेकानुप्रास है।

पूर्वाभास—हंस दमयन्ती से कहता है कि कामदेव ने ही तुम दोनों के मिलन की योजना बनाई है।

**इद यदि क्ष्मापति पुत्रि! तत्त्व पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन्।**
**त्वामुच्चकैस्तापयता नल च पञ्चेषुणैवार्जनि योजनेयम् ॥१००॥**

अन्वय—हे क्ष्मापति पुत्रि! इद तत्त्व यदि, तत् अस्मिन् स्वविधेय न पश्यामि त्वा नृप च उच्चकै तापयता पञ्चेषुणा एव इयम् योजना अर्जनि।

शब्दार्थ—हे क्ष्मापति पुत्रि!=हे राजपुत्री, इद तत्त्व यदि=यदि यह वास्तविकता है, तत्=तो, अस्मिन्=इसमें, स्वविधेय=अपने करने योग्य कार्य, न पश्यामि=नहीं देखता हूँ। त्वा=तुम्हें तुम च=और राजा नल को, उच्चकै=अत्यधिक रूप से, तापयता=सन्तप्त करने वाले, पञ्चेषुणा=कामदेव ने इयम्=यह, योजना=योजना, अर्जनि=उत्पादित की।

अनुवाद—हे राजपुत्री ! यदि यह वास्तविकता है तो इसमें अपने करने योग्य [कुछ भी] कार्य नहीं देखता हूँ। तुम्हें और राजा नल को अत्यधिक रूप में सन्तप्त करने वाले कामदेव ने यह योजना बनाई।

भावार्थ—हंस दमयन्ती से कहता है कि तुमने नल के प्रति अपनी जो आसक्ति दर्शायी, यदि वह वास्तविकता है तो इसमें मेरा करने योग्य कार्य कुछ भी शेष नहीं रहता है, क्योंकि कामदेव ही आप दोनों का मिलन चाहता है। इसी कारण वह दोनों को सन्तप्त कर रहा है।

जीवातु संस्कृत टीका—इदमिति। हे क्ष्मापति पुत्रि। इदं त्वदुक्तं तत्त्वं यदि सत्यं तर्हि अस्मिन् विषये स्वविधेयं मत्कृत्यं न पश्यामि, किन्तु त्वां नृपं च उच्चकैरत्यन्तं तापयता पञ्चेषुणैव इयं योजना युवयोः सङ्घटना अजनि जाता। जनेः कर्माणि 'चिणोलुक्' ॥

समासविग्रहादि—क्ष्मायाः पतिः क्ष्मापतिः तस्य पुत्री तत्सम्बुद्धौ इति क्ष्मापतिपुत्रि ! । स्वस्य विधेयं तत् स्वविधेयं, पञ्च इषवो यस्य स पञ्चेषुः तेन पञ्चेषुणा।

व्याकरण—उच्चकैः = उच्चैस् + अकच्। तापयता = तप् + णिच् + लट् [शतृ] + टा। अजनि = जन् + लट् + च्लि [चिण्] + त।

विशेष—अरविन्द, अशोक, आम्र, नवमालिका और नीलकमल ये पाँच प्रकार के पुष्प काम के पाँच बाण हैं।

इस पद्य में 'योजना अजनि' में योजना रूप कार्य अतीत में हो रहा है और 'तापयता' वर्तमान कालिक कारण बाद में हो रहा है' अतः कार्य-कारण-पौर्वापर्य-विपर्यय रूपा अतिशयोक्ति है।

**त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः।**
**त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु ॥१०१॥**

अन्वय—(हे भैमि !) त्वद्बद्धबुद्धेः तस्य उपवासव्रतिनां तपोभिः अद्य त्वां लब्ध्वा अमृततृप्तिभाजां बहिरिन्द्रियाणां स्वं देवभूयं चरितार्थम् अस्तु।

शब्दार्थ—(हे भैमि = हे दमयन्ती), त्वद्बद्धबुद्धेः = तुम पर ही बुद्धि लगाए हुए, तस्य = नल की, उपवासव्रतिनां = उपवास रूप व्रत करने वाले, तपोभिः = तप द्वारा, अद्य = आज' त्वां लब्ध्वा = तुम्हें प्राप्त कर, अमृततृप्ति-भाजां = अमृत में तृप्ति प्राप्त करने वाली, बहिरिन्द्रियाणां = बाह्य इन्द्रियों का, स्वं देवभूयं = अपना देवत्व, चरितार्थम् = चरितार्थ, अस्तु = हो जाय।

अनुवाद—तुम पर ही बुद्धि लगाए हुए नल की उपवास रूप व्रत करने वाली, तप द्वारा आज तुम्हें प्राप्त कर अमृत से तृप्ति प्राप्त करने वाली बाह्य इन्द्रियों का अपना देवत्व चरितार्थ हो जाय।

भावार्थ—यहाँ इन्द्रियों को देवस्वरूप माना गया है। जिस प्रकार देवों का देवत्व अमृत पान कर सफल होता है, उसी प्रकार नल की इन्द्रियाँ जो कि नल का मन दमयन्ती के प्रति लगने के कारण उपवास रूप व्रत को धारण कर रही थीं, तप के द्वारा दमयन्ती रूपी अमृत को प्राप्त कर आज सफल हो जाँय।

जीवातु संस्कृत टीका—त्वदिति। किन्तु त्वद्बद्धबुद्धेः त्वदायत्तचित्तस्य त्वामेव ध्यायत इत्यर्थः। अतएव तदधीनत्वान्मनसा त्वदासङ्गादिविषयान्तरव्यावृत्तानां तपोभिरुपवासव्रतरूपैस्त्वां लब्ध्वा ... निश्चित्य साक्षात्कृत्येति ... अतएव अमृतेन या तृप्तिस्तद्भाजां बहिरिन्द्रियाणां ... देवभावः ... इन्द्रियस्य सुरत्वश्च, देव सुरे ... इन्द्रियमिति विश्वः। चरितार्थं सफलमस्तु। अमृतपानैकफलत्वाद्देवत्वस्येति भावः। ... अप्रस्तुतप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः।

समासविग्रहादि—बद्धा बुद्धिर्येन स बद्धबुद्धिः, त्वयि बद्धबुद्धिः तस्य त्वद्बद्धबुद्धेः। उपवासव्रतिनां तपसा उपवासव्रतिनाम्। अमृतेन तृप्तिः, तां भजन्तीति अमृततृप्तिभाञ्जि तेषाम् अमृततृप्तिभाजाम्। बहिः स्थितानि इन्द्रियाणि तेषां बहिरिन्द्रियाणाम्। चरितः अर्थः यस्य तत् चरितार्थम्।

व्याकरण—अमृततृप्तिभाजाम्=अमृततृप्ति+भज्+ण्वि+आम्। लब्ध्वा—लभ्+क्त्वा। भूय=भू+क्यप्। अस्तु=अस्+लोट्+तिप्।

विशेष—श्रुतियों के अनुसार नेत्र सूर्य रूप है और मन चन्द्रमा का रूप ... तथा जिह्वा वरुण देवता का रूप है। इस प्रकार राजा नल भी लोकपाल कोटि ... और उनकी चक्षुरादि इन्द्रियाँ देवतास्वरूप ...

यहाँ इन्द्रियों में चेतन जैसा व्यवहार होने से समासोक्ति है।

समासोक्ति का लक्षण है—

> यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
> सा समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया बुधैः ॥अग्निपुराण॥

अर्थात् जहाँ कथित वस्तु से, उसी के समान विशेषणों वाला अन्य अर्थ अभिव्यक्त होता है, वहाँ संक्षिप्त अर्थ वाला होने के कारण यह विद्वानों के द्वारा समासोक्ति कहा गया है।

पूर्वाभास—नल को कामज्वर हो गया है—

**तुल्यावयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धा परं सास्य न ताप्यतेऽपि ।**
**इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥१०२॥**

अन्वय—आवयो मूर्ति तुल्या अभूत्, मदीया दग्धा, परम् अस्य सा ताप्यते अपि न, इति अभ्यसूयन् इव अतनु त्वद् विरहात् तस्य देह–तापम् विधत्ते ।

शब्दार्थ—आवयो=हम दोनो का, मूर्ति=शरीर, तुल्या=समान अभूत्=था, मदीया=मेरा, दग्धा=जल गया, परम्=परन्तु, अस्य सा=उसका शरीर, ताप्यते अपि न=तपाया भी नही जा रहा है, इति=इस प्रकार, अभ्यसूयन् इव=ईर्ष्या करता हुआ जैसा, अतनु=कामदेव, त्वद्विरहात्=तुम्हारे विरह के कारण, तस्य=उसके, देहतापम् विधत्ते=शरीर को तप्त कर रहा है।

अनुवाद—हम दोनों का शरीर समान था, मेरा जल गया, परन्तु उसका शरीर तपाया भी नही जा रहा है, इस प्रकार ईर्ष्या करता हुआ जैसा कामदेव तुम्हारे विरह के कारण उसके शरीर को तप्त कर रहा है।

भावार्थ—कामदेव सोचता है कि मेरा नल का शरीर एक जैसा था। मेरा शरीर तो जल गया है, परन्तु नल का शरीर तपाया भी नही जा रहा है मानो इसी ईर्ष्या के कारण वह उसके शरीर को दमयन्ती के विरह रूपी अग्नि मे तपा रहा है।

जीवातु मवक्कृत टीका—यदुक्त नृप पञ्चेषुस्तापयतीति तदाहतुल्येति। आवयोर्नलस्य मम चेत्यथ । 'त्यदादीनि सर्वै नित्यमिति सर्वग्रहणादत्यदादिना नलेन सह त्यदाद्येकशेष । मूर्तिस्तनुस्तुल्या तुल्यरूपा अभूत्। तत्र मदीया मा मूर्ति। पर निशेष दग्धा भस्मीकृता, अस्य मूर्तिस्तत्तु ताप्यते तापमपि न प्राप्यते इति हेतोरभ्यसूयन् ईर्ष्यन्निवेत्युत्प्रेक्षा । अतनुरनङ्ग स्त्वद्विरहात्त्वद्विरहमेव र गमविध्ये–त्यथ । तस्य नलस्य देहताप विधत्ते । तस्मात्मद्विपदमुपतिष्ठते ते मनोरथ इति भाव ।

समासविग्रहादि—अविद्यमाना तनु यस्य स अतनु । तव विरह त्व–द्विरह तस्मात् त्वद्विरहात्। देहस्य ताप देहताप तम् देहताप ।

व्याकरण—तुल्या=तुला+यत्+टाप्। मदीया=अस्मद (मत) ' छ (ईय)+टाप् । दग्धा+दह्+क्त+टाप् । ताप्यते=तप+णिच+लट+यक् त । अभ्यसूयन्=अभि+असूङ्+यक्+शतृ+सु । विधत्ते=वि+धा+लट् +त ।

नु त्वया वा रचित मात्मचक्षुषो रागमारुण्यमनुरागञ्च धत्ते । अत्रोभयकारणसम्भवद्भुभयस्मिन्नपि रागे जाते श्लेषमहिम्नैव नाभिधाना कारणविशेष सन्देह ।

समासविग्रहादि—भित्ते विभूषण तत् भित्तिविभूषण । आदरेण निर्निमेषम् इति आदरनिर्निमेषम् । चक्षुषोजलानि ते चक्षुर्जले । आत्मन चक्षु, तस्य राग तम् आत्मचक्षूरागम् ।

व्याकरण—दृशा=दृश्+क्विप् (करण) +तृ । पिबन्=पा+लट् (शतृ)+सु । धत्ते=धा+लट्+त ।

विशेष—'राग' शब्द द्वयर्थक होने से यहा श्लेष अलङ्कार है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सन्देह अलङ्कार है, क्योंकि कहा गया है कि नल मे जो चक्षुराग हुआ है वह दमयन्ती के चित्र को निरन्तर देखने तथा तज्जन्य आँसुओ के प्रवाह से हुआ है अथवा दमयन्ती ने स्वय किया है ।

पूर्वाभास—नयन प्रीति और निर्निमेषता के कलह का वर्णन किया गया है—

**पातुर्दृशाऽऽलेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयाऽस्ति ।**
**ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्ते प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवाद ॥१०४॥**

अन्वय—अस्तनिमीलया दृशा आलेख्यमयी त्वाम् आदरात् पातु नृपस्य नेत्रवृत्ते प्रीते निमेषच्छिदया अश्रुणि विवाद अस्ति ।

शब्दार्थ—अस्तनिमीलया=निर्निमेष, दृशा=दृष्टि से, आलेख्यमयी=चित्रमयी, त्वाम्=तुम्हे, आदरात्=आदर से, पातु=पीने वाले (अर्थात् देखने वाले), नृपस्य=राजा के, नेत्रवृत्ते=नेत्रो मे रहने वाली, प्रीते=प्रीति का, निमेषच्छिदया=निर्निमेषता के साथ, अश्रुणि=आँसुओ के विषय मे, विवाद अस्ति=विवाद है ।

अनुवाद—निर्निमेष दृष्टि से चित्रमयी तुम्हे आदर से पीने वाले (देखने वाले) राजा के नेत्रो मे रहने वाली प्रीति का निर्निमेषता के साथ आँसुओ के विषय मे विवाद है ।

भावार्थ—राजा नल निर्निमेष दृष्टि मे चित्रलिखित दमयन्ती को देखकर आँसू बहाता है । 'यह अश्रुपात मैंने कराया है,' इस प्रकार राजा की नयन-प्रीति और निर्निमेषता के बीच विवाद होता रहता है ।

जीवातुसंस्कृतटीका—इममेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह–पातुरिति । अन्त-निमीलया दृशा आलेख्यमयी चित्रगता त्वामादरात्पातुर्द्रष्टुरित्यर्थ पिबतेस्तृन् प्रत्यय । अतएव 'न लोके' त्यादिना षष्ठी प्रतिषेधात्त्वमिति द्वितीया । नृपस्य नेत्र वृत्ते प्रीतेश्चक्षु प्रीतेर्निमेषस्य च्छिद्दयाच्छेदेन सह नेत्रवृत्त्येति शेष । भिदादित्वादङ् प्रत्यय । अश्रुणि विषये इदमश्रु ममेति मत्कृतमेवेति विवाद कलह अस्ति भवती त्वयं ।

समासविग्रहादि—अस्तो निमीलो यस्या सा अस्तनिमीला, तया अस्त-निमीलया। नेत्रयो वृत्ति यस्या सा नेत्रवृत्ति, तस्या नेत्रवृत्ते । निमेषस्य छिदा, तया निमेषच्छिदया। विरुद्धो वाद विवाद ।

व्याकरण—पातु = पा + तृच् + ङस् । प्रीते = प्री + क्तिन् + ङस् । छिदा = छिद् + अङ् + टाप् ।

विशेष—इस पद्य मे नयन प्रीति और निर्निमेषता मे चेतनत्व का आरोप किया गया है, अत समासोक्ति अलङ्कार है।

पूर्वाभास—यहाँ काम की दूसरी अवस्था चित्तासक्ति का वर्णन किया गया है।

त्वं हृद्गता भैमि ! बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयास्यगत्या ।
न चित्रमाक्रामति[1] तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥१०५॥

अन्वय—हे भैमि ! त्वं बहिर्गता अपि हृद्गता । यथा गत्या अस्य प्राणायिता न असि । (यत प्राणोऽपि नासिकया आस्यगत्या बहिर्गतोऽपि हृद्गतो भवति) भवदेकवृत्ति एतन्मन यत् चित्रम् आक्रामति, तत्र न चित्रम् ।

शब्दार्थ—हे भैमि = हे दमयन्ती त्वं = तुम, बहिर्गता अपि = बाहर रहने पर भी, हृद्गता = हृदय के भीतर स्थित हो, यया गत्या = जिस प्रकार, अस्य = इस नल की, प्राणायिता = प्राणसमा, न असि = नही हो (यत = क्योंकि), प्राणोऽपि = प्राण भी, नासिकया = नाक के द्वारा, आस्यगत्या = मुख के द्वारा उच्छ्वास निश्वास के रूप मे, बहिर्गतोऽपि = बाहर रहने पर भी, हृद्गता = हृदय के भीतर स्थित, भवति = होता है), भवदेकवृत्ति = एक मात्र केवल तुम पर ही आसक्त हुआ, एतन्मन = यह मन, यत् = जो कि, चित्रम् = चित्र पर ही, आक्रामति = आक्रमण करता, तत्र = उसमे न चित्रम् = आश्चर्य नही है ।

1. नित

**अनुवाद**——हे दमयन्ती ! तुम बाहर रहने पर भी हृदय के भीतर स्थित हो। किस प्रकार इस नल की प्राणसमा नहीं हो ? (क्योंकि प्राण भी नाक के द्वारा, मुख के द्वारा—उच्छ्वास निःश्वास के रूप में बाहर रहने पर भी हृदय के भीतर स्थित होता है। एक मात्र केवल तुम पर ही आसक्त हुआ यह मन, जो कि चित्र पर ही आचरण करता है, उसमें आश्चर्य नहीं है।

**भावार्थ**—दमयन्ती शारीरिक रूप में बाहर विद्यमान होते हुए भी नल के अनुराग के कारण उसके हृदय में स्थित है। प्राण भी नाक और मुख मार्ग द्वारा बाहर चले जाने पर भी भीतर चले आते हैं। नल केवल दमयन्ती पर ही आसक्त है, वह उसके मन में केवल दमयन्ती का चित्र रहता है, इसमें आश्चर्य की बात नहीं है।

**जीवातुसंस्कृतटीका**——अथ मनःसङ्गमाह–त्वमिति। हे भैमि ! त्वं बहिर्गतापि हृद्गता अन्तर्गता, अपि विरोधे नेन चाभासाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः। कया गत्या केन प्रकारेण अस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदाचरिता प्राणसमा 'उपमानादाचारे' कर्तुं क्यङ् प्रत्ययः। नासि अन्येवेत्यर्थः। तत्र प्राणोऽपि नासिकया नासाद्वारेण आस्यगत्या मुखद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽप्यन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेषः। अतएव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन सङ्कीर्णा, किन्तु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्चर्यं तत्र नितान्तागामिति न किञ्चिच्चित्रमित्यर्थः। कुतः यस्मादेतन्मनो नलचित्तं भवती त्वमेवैकावृत्तिर्जीविका यस्य तद् भवदेकवृत्ति, भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। जीविनभूतस्य प्राणायितत्वे किं चित्रं, जीवितस्य प्राणधारणात्मकत्वादिति भावः।

**समासविग्रहादि**—आस्यस्य गतिः आस्यगतिः, तया आस्यगत्या। भवत्याः मन एव मनः। एका वृत्तिर्यस्मिस्तत् एकवृत्ति, भवत्याम् एकवृत्ति भवदेकवृत्ति।

**व्याकरण**—भैमी=भीम+अण्+ङीप्। प्राणायिता—प्राण+क्यङ्+क्त (कर्तरि)।

**विशेष**—यहाँ दमयन्ती पर नल के प्राणों की तुलना करने से उपमालङ्कार है यह दोषानुप्राणित है। बहिर्गतापि हृद्गता' में विरोध है। 'चित्र' 'चित्र' में यमक तथा 'गता' गता' में अनुप्रास अलङ्कार है।

**पूर्वाभास**—आगे दो पद्यों में काम की तीसरी अवस्था सङ्कल्प दशा का वर्णन किया गया है—

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम्।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतामवाप्य ॥१०६॥

अन्वय—(त्वम्) दूरदीर्घम् तदीयाम् सङ्कल्पसोपानततिम् अजस्रम् आरोहसि, यत् पुनः स अधिकं श्वासान् वर्षति, तत् तव ध्यानात् त्वन्मयताम् आप्य (एव)।

शब्दार्थ—(त्वम्=तुम), दूरदीर्घाम्=अत्यन्त लम्बी, तदीयाम्=उस नल की सङ्कल्पसोपानततिं=सङ्कल्प रूपी सीढ़ियों की पंक्ति पर, अजस्रम्=निरन्तर आरोहसि=चढ़ती हो यत्पुनः स=जो कि वह अधिकं=अधिक, श्वासान्=साँसों को वर्षति=छोड़ता है, तत्=वह तव=तुम्हारे, ध्यानात्=ध्यान के कारण त्वन्मयताम्—तुम्हारे रूप को आप्य एव=प्राप्त करके ही, (मुञ्चति—छोड़ता है)।

अनुवाद—हे दमयन्ती ! तुम अत्यन्त लम्बी उस नल की सङ्कल्प रूपी सीढ़ियों की पंक्ति पर निरन्तर चढ़ती हो जो कि वह अधिक साँसों को छोड़ता है।

भावार्थ—सोपान पर दमयन्ती चढ़ती है किन्तु नल लम्बी लम्बी साँसों को छोड़ता है इसका कारण यही है कि नल दमयन्ती के रूप को प्राप्त हो गया है।

जीवातुसंस्कृतटीका—अथ द्वाभ्यां सङ्कल्पावस्थामाह—अजस्रमिति। दूरदीर्घामत्यन्तायतां तदीयां सङ्कल्पा मनोरथा एव सोपानानि तेषाम् ततिं पङ्क्तिम् अजस्रं त्वमारोहसि, श्वासान् पुनः स नलः अधिकं वर्षति मुञ्चतीति यत् तच्छ्वासवर्षं तव ध्यानात् त्वन्मयतां त्वदात्मत्वमाप्य प्राप्य, आरोहणादिति, समाधिस्थस्यादेन, अन्यथा कथमन्यारोहणादन्यस्य श्वासमोक्ष इति भावः। अत्र श्वाससोपानारोहणयोः कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्यादसङ्गत्यलङ्कारः 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः' इति लक्षणात् तन्मूला चेयं ताद्रूप्योत्प्रेक्षेति सङ्करः।

सम सविग्रहादि—दूरं दीर्घा ताम् दूरदीर्घाम्। तस्येयं ताम् तदीयां। सङ्कल्पा एव सोपानानि सङ्कल्पसोपानानि, सङ्कल्पसोपानानां ततिः, ताम् सङ्कल्पसोपानततिं। त्वमेव स्वरूपं यस्य सः त्वन्मयः, त्वन्मयस्य भावस्त्वन्मयता ताम् त्वन्मयताम्।

व्याकरण—तदीय=तत्+छ (ईय)। आप्य=आ+आप्+ल्यप्।

विशेष—इस पद्य में सङ्कल्प पर सोपान का आरोप होने से रूपक अलङ्कार है। सीढ़ियों पर तो दमयन्ती चढ़ रही है और नल थककर साँस छोड़ रहा है इस प्रकार यहाँ असङ्गति अलङ्कार है। इसका रूपक से सङ्कर है।

हृत्तस्य यन्मन्त्रयते रहस्त्वां ता व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत् ।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्योचितो सा खलु तन्मुखस्य ॥१०७॥

अन्वय—तस्य हृद् यत् त्वा रहो मन्त्रयते, ता त्वा मुख व्यक्तम् आमन्त्रयते। सा तन्मुखस्य तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रमख्योचिती खलु ॥

शब्दार्थ—तस्य=मन का, हृद्=हृदय, यत् त्वा=जो तुमसे, रहो मन्त्रयते=एकान्त मे मन्त्रणा करता है ता=उस, त्वा=आपका, मुख=मुख, व्यक्तम्=स्पष्ट रूप से, आमन्त्रयते=उच्चारण करता है। सा=वह रहस्य प्रकाशन की क्रिया तन्मुखस्य=नल के मुख की, तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्योचिती खलु=उस (नल) के वैरी कामदेव के मित्र चन्द्रमा के साथ मित्रता के लिए उचित ही है।

अनुवाद—नल का हृदय जो तुम से एकान्त मे मन्त्रणा करता है, उसे आपका मुख स्पष्ट रूप से उच्चारण करता है। वह रहस्य प्रकाशन की क्रिया नल के मुख की उस (नल) के वैरी कामदेव के मित्र चन्द्रमा के साथ मित्रता के लिए उचित ही है।

भावार्थ—नल का हृदय दमयन्ती से एकान्त मे जो मन्त्रणा करता है, उसे नल का मुख सबके सामने प्रकट कर देता है। इसका कारण यह है कि कामदेव नल का वैरी है। कामदेव की चन्द्रमा के साथ मित्रता है। चन्द्रमा के साथ नल के मुख की मित्रता है। अतः नल के मुख का चन्द्रमा के साथ मैत्री का निर्वाह करना उचित ही है।

जीवातुसंस्कृतटीका—हृदिति। तस्य नलस्य हृत् हृदय कर्तृ या रह उपांशु 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमर। मन्त्रयते सम्भाषते ता त्वा तन्मुख कर्तृ व्यक्त प्रकाशमामन्त्रयते। हे प्रिय! क्व यासि? मामनुयाहि पश्य इत्येवमुच्चैरुच्चरतीति यत् सा तद्रहस्य प्रकाशन, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता। तन्मुखस्य तद्वैरिणो नलद्वेषिण पुष्पायुधस्य मित्र सखा यश्चन्द्र। तेन यत् सख्य मैत्री सादृश्यञ्च, तस्य औचिती औचित्य खलु। वैरिमित्रस्याप्यरित्वादुचितमेतद्रहस्यभेदनमित्यर्थ। अत्र मुखकर्तृकरहस्योद्भेदस्य तत्सख्यनिमित्तत्वमुत्प्रेक्षते॥

समासविग्रहादि—तद्वैरिपुष्पायुधमित्रसख्योचिती=तस्य वैरी तद्वैरी, पुष्पाणि आयुधानि यस्य स पुष्पायुध, तद्वैरी चाऽसौ पुष्पायुध, तस्य मित्र, तेन सख्यम्, तस्य औचिती इति तद्वैरिपुष्पायुधमित्रसख्योचिती।

व्याकरण—मन्नयते=मनि+लट् । औचिती=उचित+ष्यञ्+ङीप्, यकारलोप ।

विशेष—इस पद्य मे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

पूर्वाभास—यहा निद्राच्छेद और विषय निवृत्ति नामक दो कामदशाओं को बतलाया गया है—

**स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती ।**
**आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राऽधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा**
**॥१०८॥**

अन्वय—रात्रौ शय्याम् अधिशय्य स्थितस्य तस्य मन मोहे निमज्जयन्ती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति, सा निद्रा त्वद् ऋते अङ्गना वा अधुना न (अस्ति) ।

शब्दार्थ—रात्रौ=रात्रि मे, शय्याम्=शय्या पर, अधिशय्य स्थितस्य=लेटे हुए, तस्य=उस नल के, मन=मन को, मोहे=मोह मे, निमज्जयन्ती=निमग्न करती हुई, या=जो, आलिङ्ग्य=आलिङ्गन कर, लोचने=नेत्रों को, चुम्बति=चूमती है, सा=वह, निद्रा=नींद, त्वदृते=आपके सिवाय, अङ्गना वा=अथवा स्त्री, अधुना=इस समय, न अस्ति=नहीं है ।

अनुवाद—रात्रि में शय्या पर लेटे हुए उस नल के मन को मोह मे निमग्न करती हुई जो आलिङ्गन कर नेत्रों को चूमती है, वह नींद अथवा आपके सिवाय स्त्री इस समय नहीं है ।

भावार्थ—नल को दमयन्ती के वियोग मे नींद नहीं आती है, न वे अन्य स्त्री के साथ शयनादि करते है ।

जीवातु संस्कृत टीका—अथ एतेन जागरदशाविरुद्धमाह—स्थितस्येति । रात्रौ शय्यामधिशय्य शय्यायां शयित्वा 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति अधिकरणस्य कर्मत्वम् । स्थितस्य तस्य मनो मोहे सुषुप्त्यवस्थायां निमज्जयन्ती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति, सा निद्रा त्वदृते त्वत्तो विना 'अन्यारादितरर्ते' इत्यादिना पञ्चमी । त्वद्विरहादेतोस्तत्पदस्य योग [illegible] अङ्गना वा अधुना नास्ति, [illegible] अङ्गनान्तरविषय [illegible] निद्राङ्गनयो प्रस्तुत- योरेवालिङ्गनादि [illegible] चुम्बनादिसम [illegible] अलङ्कार । 'प्रस्तुतानामेव केवल तुल्यधर्मत । औपम्य गम्यते यत्र सा मता तुल्य- योगिता ।' इति लक्षणात् ।

व्याकरण—अधिशय्य=अधि+शीङ्+ क्त्वा (ल्यप्), निमज्ज-यन्ती=नि+मस्ज+णिच्+लट् (शतृ) +ङीप+सु। चुम्बति=चुबि+लट्+तिप्।

विशेष—इस पद्य मे प्रस्तुत निद्रा और अङ्गना का चुम्बन आदि धर्म के साथ सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलङ्कार है।

पूर्वाभास—नल की पाँचवी दशा-शारीरिक दुर्बलता का वर्णन किया गया है—

**स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव बाणैर्लावण्यशेषा कृशतामनायि।**
**अनङ्गतामप्ययमाप्यमान स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥१०६॥**[1]

अन्वय—अयम् स्मरेण बाणैः निस्तक्ष्य वृथा एव लावण्य-शेषाम् कृशताम् अनायि, अनङ्गताम् आप्यमान अपि (अयम्) तेन सार्धं स्पर्धाम् न जहाति।

शब्दार्थ—अयम्=यह नल, स्मरेण=कामदेव के द्वारा, बाणैः=बाणों से निस्तक्ष्य=छीलकर, वृथा एव=व्यर्थ ही लावण्यशेषाम्=सौंदर्य जिसमे शेष रह गया है ऐसी कृशताम्=कृशता (दुर्बलता) को, अनायि=प्राप्त कराया गया है अनङ्गताम्=दुर्बल अङ्गों वाला आप्यमान अपि=बनाए जाने पर भी, अयम्=यह (नल), तेन सार्धं=कामदेव के साथ, स्पर्धाम्=स्पर्द्धा को, न विज- हाति=नही छोड रहा है।

अनुवाद—यह नल कामदेव के द्वारा बाणों से छीलकर व्यर्थ ही सौन्दर्य जिसमे शेष रह गया है ऐसी कृशता को प्राप्त कराया गया है। दुर्बल अङ्गों वाला बनाए जाने पर भी यह कामदेव के साथ स्पर्द्धा को नही छोड रहा है।

भावार्थ—कामदेव अपने बाणों का प्रहार कर निरन्तर नल के शरीर को दुर्बल बना रहा है। केवल उसके शरीर मे लावण्य शेष रह गया है। ऐसी स्थिति होने पर भी वह कामदेव के साथ स्पर्द्धा का नही छोड रहा है।

जीवातुसंस्कृतटीका—अथ कार्श्यदशामाह—स्मरेणेति। अय नल स्मरेण बाणैर्निस्तक्ष्य निशाय वृथैव लावण्य कान्तिविशेष, 'मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा, प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति भूपाल। तदेव शेषो यस्या ता कृशता कार्श्यमनायि नीत। सद्यः द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि लुङ्

प्रधानकमप्याश्रपेये लाडीनात् द्विषमपामि' ति वचनात् । दृशान्व व्यनक्ति—अनङ्गता कृशाङ्गताम् अनुदरे' तिवदीषदर्थे नञ् समास, आप्यमानो आनीयमानो ऽपि अत्र पूर्ववत्प्रधाने शानच् तेन स्मरेण साद्धं स्पर्द्धा न विजहाति, तथापि त जिगीषत्येवेत्यर्थः । अङ्गाकार्श्येऽपि स्पर्द्धाबीजलावण्यस्याव्ययदिङ्गकरनि वृद्धेति भाव । अतएव विशेषोक्तिरलङ्कार, तत्सामग्रयामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिरलङ्कृति । इति लक्षणात् ।

समासविग्रहादि—लावण्यम् एव शेषो यस्या सा ताम्, लावण्यशेषा । अविद्यमान अङ्ग यस्य स अनङ्ग तस्य भाव तत्ता, ताम्, अनङ्गताम् ।

व्याकरण—निस्तक्ष्य=निस् + तक्ष + क्त्वा (ल्यप्) । कृशता=कृश + तल् + टाप् + अम् । आनीयि=नी + लुट्(कम मे) + त । अनङ्गताम्=अनङ्ग + तल् + टाप् + अम् । आप्यमान =आप् + लट् (कर्म मे) (शानच्) यक् + सु । विजहाति=वि + हा + लट् + तिप् ।

विशेष—शरीर दुबल होने रूप कारण से स्पर्द्धा छोडना रूप कार्य होना चाहिए किन्तु इस प्रकार के काय का यहाँ अभाव है, अत विशेषोक्ति अलङ्कार है।

पूर्वाभास —कवि काम की सातवीं दशा—लज्जा के नाश का वणन कर रहा है—

**त्वत्प्रापकात् त्रस्यति नैनसोऽपि त्वय्येव दास्येऽपिन लज्जते यत् ।**
**स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावो ऽपि कियान् किमस्य ॥**
**११० ॥**

अन्वय—एष त्वत्प्रापकात् एनस अपि यत् न त्रस्यति, त्वयि दास्ये अपि यत् न लज्जते । स्मरेण तीक्ष्णै बाणै अतितक्ष्य अस्य कियान् स्वभाव अपि लून किम् ?

शब्दार्थ —एष=यह (नल), त्वत्प्रापकात्=तुम्हें प्राप्त करने वाले, एनस अपि=पाप से भी, यत् न=जो नहीं, त्रस्यति=डरता है, त्वयि=तुम्हारे प्रति, दास्ये अपि=दास भाव धारण करने पर भी, यत्=जो, न लज्जते=लज्जित नहीं होता है, स्मरेण=कामदेव ने, तीक्ष्णै बाणै =तीक्ष्ण बाणों से, अतितक्ष्य=छीलकर, अस्य=इसका, कियान् स्वभाव =स्वरूप स्वभाव को, अपि=भी लून किम्=काट डाला है ?

अनुवाद—यह नल तुम्हें प्राप्त करने वाले पाप से भी जो नहीं डरता है तुम्हारे प्रति दास्यमात्र धारण करने पर भी जो लज्जित नहीं होता है, कामदेव ने तीक्ष्ण वाणों से छीलकर इसके स्वभाव को भी क्या स्वल्प छीला है ?

भावार्थ—नल की दमयन्ती के प्रति आसक्ति इतनी बढ़ गयी है कि वह बलात् उसका अपहरण करना चाहता है। दमयन्ती को पाने के लिए वह उसकी दासता भी करने को तैयार है। कवि कहता है कि जिस प्रकार कामदेव ने नल के शरीर को दुबल बना दिया, क्या उसी प्रकार स्वभाव भी दुर्बल बना दिया है ?

जीवातु सस्कृत टीका—अथ द्राभ्या लज्जात्यागमाह—त्वदित्यादि । स्मरेण तीक्ष्णैर्बाणैरनिलस्य शरीरमिति शेष । अस्य नलस्य स्वभावोऽपि पापभी—रुत्वनीचत्वरूपत्वतच्छैत्यमपि क्रियानल्पोऽपि लून किम्, इत्युत्प्रेक्षा, यद्यस्मात्त्व—त्प्रापकात् त्वत्प्राप्तिसाधनादेन स पापादपि न बिभेति, 'भीत्रार्थाना भयहेतुरि' ति अपादानत्वात् पञ्चमी त्वय्येव दास्ये ऽपि त्वदधिगतदास्यविषये न लज्जते ।

समासविग्रहादि—त्व प्रापक तस्मात्, त्वत्प्रापकात् ।

व्याकरण—प्रापक = प्र + आप् + वु(अक) । दास्यम् = दास + ष्यञ् ।

विशेष—किम् शब्द उत्प्रेक्षा का वाचक होने से इस पद्य मे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

पूर्वाभास—वैद्य भी नल के राग कारण रहने से लज्जा का अनुभव कर रहे थे ।

**स्मार ज्वरं घोरमपत्रपिष्णो सिद्धा ऽ गदङ्कारचये चिकित्सौ ।**
**निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा ॥१११॥**

अन्वय—अपत्रपिष्णो तस्य विशाला लज्जा साङ्क्रामिकी रुजा इव घोरम् स्मारम् ज्वरम् चिकित्सौ सिद्धागदङ्कारचये निदानमौनात् अविशत् ।

शब्दार्थ—अपत्रपिष्णो = लज्जा शील, तस्य = उस नल की, विशाला लज्जा = विशाल लज्जा, साङ्क्रामिकी रुजा इव = सङ्क्रामक रोग के समान, घोरम् = घोर, स्मार ज्वरम् = काम ज्वर को, चिकित्सौ = चिकित्सा करने वाले, सिद्धागदङ्कारचये = समर्थ वैद्यसमूह मे, निदानमौनात् = रोग का कारण न कहने से, अविशत् = प्रविष्ट हुई ।

**अनुवाद**—लज्जा शील उस नल की विशाल लज्जा संक्रामक रोग के समान घोर कामज्वर की चिकित्सा करने वाले समर्थ वैद्य समूह में रोग का कारण न कहने से प्रविष्ट हुई।

**भावार्थ**—जिस प्रकार संक्रामक रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार नल की लज्जा भी उसके कामज्वर की चिकित्सा करने वाले वैद्यसमूह में प्रविष्ट हुई, क्योंकि वे नल के रोग का लज्जा के कारण कथन नहीं कर पा रहे थे।

**जीवातुसंस्कृतटीका**—स्मारमिति। घोर दारुण स्मार ज्वर काम-सन्ताप चिकित्सो प्रतिकर्त रि कितनिवाम इति धातो गुप्तिज्किद्भ्य सन्निति निन्दाक्षमाव्याधिप्रतीकारेषु इष्यत' इति रोगप्रतीकार सन प्रत्यय, सनाद्यन्ताधिश उ,' 'नलोकेत्यादिना षष्ठीप्रतिषेध। सिद्धागदङ्कारचय सिद्धवैद्यसंघे कमण्यपि 'कारे सत्यागदस्ये' ति मुमागम। निदानमौनाद्रोगनिदानानभिधानाद्धेतो संक्रमविष्णो लज्जाशीलस्य 'अलङ्कृञ्जि' त्या दिना इष्णु च। तस्य नलस्य विशाला महती लज्जा संक्रमादागता सांक्रामिकी रुजेव 'अतिरोगो ह्यपस्मार क्षय कुष्ठो मसूरिका। दर्शनात् स्पर्शनाद्दानात् संक्रमति नरान्नरम्॥ इति उक्ताश्च्यादिरोगा इवेत्यर्थ, मिशादित्वादटूप्रत्यय अविशत्।

**समासविग्रहादि**—अगद कुर्वन्तीति अगदङ्कारा सिद्धाश्च ते अगद-ङ्कारा, तेषां चय, तस्मिन्, सिद्धागदङ्कारचये। अपत्रपते तच्छील अपत्रपिष्णु तस्य अपत्रपिष्णो।

**व्याकरण**—स्मार = स्मर + अण = अम्। अपत्रपिष्णु = अप + त्रप + इष्णुच्। रुजा = रुज् + क्विप् = टाप्। चिकित्सो – कित + सन + उ सप्तमी। अगदङ्कार = अगद + कृ + अण् (मुम् का आगम)।

**विशेष**—इस पद्य में उपमा अलङ्कार है, क्योंकि नल व वैद्यों में संक्रमित हुई लज्जा की उपमा संक्रामक रोग से दी गई है।

**पूर्वाभास**—अब कवि नल की आठवीं कामदशा उन्मादावस्था का वर्णन करता है—

**बिभेति रुष्टाऽसि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलोपेत्य हसत्यशङ्के।**
**यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम्॥११२॥**

अन्वय—स (हे भैमि) त्व रुष्टा असि किल इति अकस्मात् बिभेति। त्वाम् आप किल इति अकाण्डे हसति, यान्तीम् इव त्वाम् अनु अहेतो याति, त्वया उक्त इव मोघम् प्रतिवक्ति।

शब्दार्थ—स=वह नल, (हे भैमि=हे दमयन्ती!), त्व=तुम, रुष्टा असि किल=रुष्ट हो, इति=ऐसा मानकर अकस्मात्=यकायक, बिभेति=डर जाता है, त्वाम्=तुम्हें, आप किल=प्राप्त कर लिया है, इति=ऐसा मानकर, अकाण्डे=असमय में ही, हसति=हसता है, यान्तीम इव=तुम जा रही हो, इस तरह, त्वाम् अनु=तुम्हारे पीछे। अहेतो =बिना कारण, याति=जाता है, त्वया=तुमने, उक्त इव=कहा हो इस प्रकार, मोघम्=वृथा ही, प्रतिवक्ति= प्रत्युत्तर देता है।

अनुवाद—हे दमयन्ती! वह नल तुम रुष्ट हो, ऐसा मानकर यकायक डर जाता है, तुम्हे प्राप्त कर लिया है, ऐसा मानकर असमय मे ही हसता है, तुम जा रही हो, इस तरह तुम्हारे पीछे पीछे बिना कारण जाता है। तुमने कहा हो, इस प्रकार वृथा ही प्रत्युत्तर देता है।

भावार्थ—दमयन्ती के प्रति आसक्ति के कारण नल की उन्मत्त जैसी स्थिति हो रही है। दमयन्ती रुष्ट हो गयी है, ऐसा मानकर वह अकस्मात् डर जाता है। दमयन्ती उसे प्राप्त हो गयी है, ऐसा मानकर असमय में ही हँसता है। दमयन्ती जा रही है, इस प्रकार उसके पीछे पीछे जाता है। दमयन्ती ने कुछ बोला हो, ऐसा मानकर व्यर्थ ही उत्तर देता है।

जीवातु संस्कृत टीका—अथ उन्मादावस्थामाह-बिभेतीति। स नल अकस्मादकाण्डे रुष्टा कुपितासीति बिभेति अकाण्डे अनवसरे उपेत्य किल प्राप्येय हसति, अहेतोरकस्माद्यान्ती गच्छन्ती किल त्वामनुयाति, त्वया उक्त इव मोघ निर्विषय प्रतिवक्ति। सर्वो ऽप्यय मुन्मादानुभाव। उन्मादश्चित्तविभ्रम॥

समासविग्रहादि—न काण्ड अकाण्ड, तस्मिन्, अकाण्डे। न हेतु अहेतु तस्मात् अहेतो।

व्याकरण—रुष्टा=रुष्+क्त+टाप्+सु। बिभेति=भी+लट्+तिप्। उपेत्य=उप+आङ्+इण्+क्त्वा (ल्यप्)। हसति=हस्+लट्+तिप्। यान्ती=या+लट् (शतृ)+ङीप्+अम्। प्रतिवक्ति=प्रति+वच्+तिप्।

विशेष—इस पद्य मे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

पूर्वाभास—यहाँ काम की नवमी अवस्था का वर्णन किया गया है—

भवद्वियोगाद् भिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निःशरण्यः ।
मूर्च्छामयद्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के हा! हा! महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम्
॥११३॥

अन्वय—भवद्वियोगात् भिदुरार्तिधारायमस्वसु मूर्च्छामय द्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के अय महीभृद्भटकुञ्जर निःशरण्य (सन्) मज्जति। हा! हा!

शब्दार्थ—भवद्वियोगात्=आपके वियोग से, भिदुरार्तिधारायमस्वसु=अविच्छिन्न दुःखधारा रूप यमुना के, मूर्च्छामयद्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के=मूर्च्छा रूप द्वीप के महामोह रूप कीचड मे, अय=यह, महीभृद्भटकुञ्जर=राजवीर रूपी हाथी, निःशरण्यः सन्=निःसहाय होकर, मज्जति=डूब रहा है, हा! हा!=बड़े खेद की बात है।

अनुवाद—आपके वियोग के कारण अविच्छिन्न दुःखधारा रूप यमुना के मूर्च्छा रूप द्वीप मे महामोह रूप कीचड मे यह राजवीर रूपी हाथी निःसहाय होकर डूब रहा है, बड़े खेद की बात है।

भावार्थ—जिस प्रकार यमुना के कीचड मे फंसा हुआ, बिना महावत का हाथी दुःखी होता है, उसी तरह राजा नल दमयन्ती के विरह मे होने वाली दुःखधारा के कारण मूर्च्छाजनित महामोह मे डूब रहे हैं, यह बड़े खेद की बात है।

जीवातु संस्कृत टीका—अथ मूर्च्छावस्थामाह—भवदिति । भवत्या वियोगो भवद्वियोग 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव'। तस्मिन्नच्छिदुरा अविच्छिन्ना विदिभिदिच्छिदे, कुरच्' । आर्तिधारा दुःखपरम्परा तस्या एव यमस्वसुर्यमुनाया मूर्च्छामय मूर्च्छावस्था रूप यद् द्वीप तत्र यन्महाऽऽन्ध्य महामोहस्तस्मिन्नेव पङ्के मही मृद्भटो राजवीर स एव कुञ्जर निःशरण्यो निरालम्ब सन् मज्जति हा हेति खेदे। रूपकालङ्कार । आर्तिधारायास्तमोविकारत्वेन रूपसाम्याद्यमुना रूपणम्।

समासविग्रहादि—भवत्या वियोग, तस्मात् भवद्वियोग। भिदुरार्तिधारा एव यमस्वसा, तस्या, भिदुरार्तिधारायमस्वसु। मूर्च्छामयद्वीपे महाऽऽन्ध्य, तदेव पङ्क तस्मिन्, मूर्च्छामय द्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के। महीं बिभर्तीति महीभृत्, तस्या भटो भट स एव कुञ्जर इति महीभृद्भटकुञ्जर। निर्गत शरण्यो यस्मात् स निःशरण्य।

व्याकरण—शरण्य—शरण—यत्।

विशेष ---इस पद्य मे रूपक अलङ्कार है।

पूर्वाभास---नल की कामजन्य दसवी दशा का निषेध किया गया है।

**सव्यापसव्यव्यसनाद् द्विरुक्तै पञ्चेषुबाणै. पृथगर्जितासु ।**
**दशासु शेषा खलु तद्दशा या तया नभ पुष्यतु कोरकेण ॥११४॥**

अन्वय—सव्यापसव्यव्यसनात् द्विरुक्तै पञ्चेषुबाणै पृथक् अर्जितासु दशासु शेषा या तद्दशा तया कोरकेण नभ खलु पुष्यतु।

शब्दार्थ—सव्यापसव्यव्यसनात्=बायें और दायें-दोनो हाथो द्वारा छोडने से द्विरुक्तै पञ्चेषु बाणै=काम के दुगने अर्थात् दस बाणो की, पृथक् अर्जितासु=पृथक पृथक उत्पन्न की हुई, दशासु=दशाओ मे, शेषा=शेष बची, या=जो तद्दशा=उसकी दशा (मरण अवस्था), तया=उसके रूप वाली, कोरकेण=कली से नभ खलु=आकाश पुष्यतु=खिल जाय।

अनुवाद—बायें और दायें हाथो द्वारा छोडने से दस बाणो की पृथक् पृथक् उत्पन्न की हुई दशाओ मे जो उसकी शेष दशा (मरणावस्था) बची है, उस रूप वाली कली से आकाश खिल जाय। अर्थात् जिस प्रकार आकाश कुसुम का अस्तित्व नही होता है उसी प्रकार काम की दसवी दशा मरण का नल के लिए अस्तित्व विहीन हो।

भावार्थ—यहाँ अलङ्कारमयी शैली मे कहा गया है कि दमयन्ती के वियोग मे नल की काम की दसवीं दशा-मरण कभी भी न हो। यह आकाश कुसुम के समान अस्तित्व विहीन हो जाय।

जीवातुनम्कृतटीका—दशमावस्था तु तस्य कदापि माभूदित्यत आह—सव्येति। सव्यापसव्याभ्या वामदक्षिणाभ्या व्यसनान्मोचनात् द्विरुक्तैर्द्विगुणीकृतैर्दशभिरित्यर्थ। पञ्चेषुबाणै पृथगर्जितासु प्रत्येकमुत्पादितासु दशासु 'दृड्मन सङ्गसङ्कल्पा जागर कृशताऽरति। ह्रीत्यागोन्माद मूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश।' इत्युक्तासु चक्षु प्रीत्यादिदशावस्थासु शेषा अवशिष्टा या तद्दशा दशमावस्थेत्यर्थ। तयैव कोरकेण कलिकयेति रूपकम्। नभ पुष्यतु पुष्पितमस्तु। अस्य सा दशा खपुष्पकल्पास्तु, क्वापि मा भूदित्यर्थ। तस्य स्वस्यापि नाशादिति भाव। पुष्प विकसने इति धातोर्लोट्।

समासविग्रहादि—सव्यश्च अपसव्यश्च सव्यापसव्यौ, ताभ्या व्यसन तस्मात् सव्यापसव्यव्यसनात्। पञ्च इषवो यस्य स पञ्चेषु, पञ्चेषो बाणा तै पञ्चेषुबाणै।

व्याकरण—द्वि=द्वि+मुच् । पुष्यत्=पुष्प (विकसने)लोट् ।

विशेष—दशवीं दशा पर कौरवत्व का आरोप है, अतः रूपक अलङ्कार हैं। काम की गिनाई दस अवस्थाओं का उक्त श्लोकों में क्रमशः अन्वय होने से यहाँ यथासङ्ख्य अलङ्कार है। 'सख्या'– सख्य' में छेकानुप्रास अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हंस दमयन्ती से कहता है कि नल ने मुझे आपके पास भेजा है।

त्वयि स्मराधेस्सततास्मितेन प्रस्थापितो भूमिभृताऽस्मि तेन ।
आगत्य भूतस्सफलो भवत्या भावप्रतीत्या गुणलोभवत्या ।।११

अन्वय—त्वयि स्मराधे सतताऽस्मितेन तेन भूमिभृता प्रस्थापितः अस्मि। (अहम्) आगत्य गुणलोभवत्या भवत्या भावप्रतीत्या सफलो भूतः (अस्मि)।

शब्दार्थ—त्वयि=आपके विषय में, स्मराधे=कामजन्य मनोवेदना में, सतताऽस्मितेन=निरंतर मन्दहास्य रहित, तेन भूमिभृता=उस राजा नल के द्वारा, प्रस्थापितः अस्मि=भेजा गया हूँ। [अहम्=मैं], आगत्य=आकर, गुणलोभवत्या=गुणों की लोभी, भवत्या=आपकी, भावप्रतीत्या=भाव प्रतीति से, अर्थात् आपके भाव जानकर, सफलो=सफल, भूतः अस्मि=हो गया हूँ।

अनुवाद—आपके विषय में कामजन्य मनोवेदना से निरन्तर मन्दहास रहित उस राजा नल के द्वारा भेजा गया हूँ। मैं आकर गुणों की लोभी आपकी भावप्रतीति से अर्थात् आपके भाव जानकर सफल हो गया है।

भावार्थ—हंस कहता है कि राजा नल की कामपीड़ा इतनी अधिक बढ़ गई है कि उन्होंने मन्दहास्य करना भी छोड़ दिया है। उन्होंने ही मुझे आपके पास भेजा है। मुझे यहाँ ज्ञात हुआ कि आप गुणानुरागिणी हैं, अतः नल को चाहती हैं। ऐसी स्थिति में मेरा प्रयास सफल हो गया है।

जीवातु संस्कृत टीका—त्वयीति। त्वयि विषये स्मराधे स्मरपीडा-दुःखाद्धेतोः सततास्मितेन स्मितरहितेन निरन्तरेण तेन भूमिभृता प्रस्थापितोऽस्मि अथ आगत्य गुणलोभवत्या भवत्यास्तव भाव प्रतीत्या अभिप्रायज्ञानेन सफलो भूतः सिद्धार्थोऽस्मीत्यर्थः।

समासविग्रहादि—अविद्यमानं स्मितं यस्य स अस्मितः, सततम् अस्मितेन सततास्मितेन। भूमिं बिभर्तीति भूमिभृत्, तेन भूमिभृता। लोभः अस्ति अस्या लोभवती, गुणे लोभवती, तया गुणलोभवत्या।

व्याकरण—आधि = आ + धा + कि । स्मितम् = स्मि + क्त । भूमि-भृत् = भूमि + भृ + क्विप् । प्रतीति = प्रति + इ + क्तिन् [भावे] ।

विशेष—यहाँ 'स्मितेन' 'स्मितेन' में यमक अलङ्कार है।

पूर्वाभास—दमयन्ती ने नल को भी आकृष्ट कर लिया, अत वह धन्य है।

**धन्याऽसि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।**
**इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ।११६।**

अन्वय—हे वैदर्भि ! त्वम् धन्या असि, यया उदारैः गुणैः नैषधः अपि समाकृष्यत । खलु चन्द्रिकायाः इतः (परा) का स्तुतिः यत् सा अब्धिम् अपि उत्तरलीकरोति ।

शब्दार्थ—हे वैदर्भि ! = हे विदर्भ देश की राजपुत्री दमयन्ती ! त्वम् = तुम, धन्या असि = धन्य हो, यया = जिसने उदारैः गुणैः = अपने उदार (उत्कृष्ट) गुणों से, नैषधः अपि = निषध देश के राजा नल को भी समाकृष्यत = आकृष्ट कर लिया । खलु = निश्चित रूप से चन्द्रिकाया = चाँदनी की, इतः (परा) = इससे अधिक, का स्तुतिः = क्या स्तुति हो सकती है, यत् सा = जो कि वह, अब्धिम् अपि = समुद्र को भी, उत्तरलीकरोति = चञ्चल कर देती है ।

अनुवाद—हे विदर्भ देश की राजपुत्री दमयन्ती ! तुम धन्य हो जिसने अपने उदार गुणों से निषध देश के राजा नल को भी आकृष्ट कर लिया । निश्चित रूप से चाँदनी की इससे अधिक क्या स्तुति हो सकती है जो कि वह समुद्र को भी चञ्चल कर देती है ।

भावार्थ—जिस प्रकार चाँदनी अपने आह्लादक रूप गुण से समुद्र को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है, उसी प्रकार दमयन्ती ने भी अपने गुणों से नल को आकृष्ट कर लिया, अत दमयन्ती धन्य है ।

जीवातु संस्कृत टीका—धन्येति ! हे वैदर्भि ! भैमि वैदर्भीरीतिरिति गम्यते । धन्या त्वम् धन्या असि कृतार्थासीत्यर्थः । धन धान्य लाभे' ति यत्प्रत्ययः । कुतः ? यया त्वया उदारैरुत्कृष्टैर्गुणैर्नवविस्तारादिभिः परम रीतिपक्षे प्रसादादिभि पाषाणैरपि समाकृष्यत, नैषधो नलोऽपि दारुवत् धीरोदात्तोऽपीति भाव । समाकृष्यत समाकृष्टो वशीकृत इति भाव । एतत् वैदर्भीपक्षे लिङ्गविपरिणामाद् गुणैर्माधुर्यादिभिर्मधुर-गानद्वारो युज्यते । तथाहि चन्द्रिका या अब्धिमपि समुद्रमपि उत्तरलीकरोतीति भाव । उत्तर—

लीकरोति शोभयतीति यत् ततोऽपे अभ्यधिका स्तुतिर्वर्णना का खलु ? न काचि-दपि । दृष्टान्तालङ्कार । एतेन नलस्य समुद्रगाम्भीर्यं दमयन्त्याश्चन्द्रिकाया इव सौन्दर्य च व्यज्यते ।

व्याकरण—वैदर्भि = विदर्भ + अण् + ङीप् + सु । समाकृष्यत = सम् + आङ् + कृष + लट् + त । अब्धि = अप् + धा + कि । उत्तरलीकरोति = उत् + तरल + कृ + च्वि + ईत्व + लट् ।

विशेष—वैदर्भि शब्द से यहाँ वैदर्भी रीति ध्वनित होती है। वैदर्भी रीति भी अपने गुणो से सभी को आकृष्ट करती है ।

इस पद्य मे प्रथम उपमेय वाक्य मे दमयन्ती द्वारा नल का समाकर्षण और द्वितीय वाक्य मे (उपमान) चन्द्रिका द्वारा समुद्र का समाकर्षण बताया गया है । दोनो ही वाक्यो मे एक ही समाकर्षण रूप समान धर्म पृथक् पृथक् शब्दों—*समाकृष्यत और उत्तरलीकरोति द्वारा निर्दिष्ट किया गया है अत यहाँ प्रतिवस्तूपमा* अलङ्कार है ।

इस पद्य से नल की समुद्र के समान गम्भीरता तथा दमयन्ती का चाँदनी के समान सौन्दर्य व्यञ्जित होता है ।

पूर्वाभास—ब्रह्मा भी शशि और निशा के समागम द्वारा नल और दमयन्ती का समागम करने हेतु बार बार अभ्यास कर रहा है—

**नलेन भाया शशिना निशेव, त्वया स भायान्निशया शशीव ।**
**पुन पुनस्तद्युगयुग् विधाता स्वभ्यासमास्ते नु युवा युयुक्षुः ॥११७॥**

अन्वय—शशिना निशा इव (त्वम्) नलेन भाया । स (अपि) निशया शशी इव त्वया भायात् । पुन पुन तद्युग युग् विधाता युवा युयुक्षु स्वभ्यासम् आस्ते नु ?

शब्दार्थ—शशिना = चन्द्रमा के साथ, निशा इव = रात्रि के समान, (त्वम् = तुम) नलेन = नल से, भाया = सुशोभित होओ । स (अपि) = वह भी, निशया = रात्रि के साथ, शशी इव = चन्द्रमा के समान, त्वया = तुमसे, भायात् = सुशोभित हो । पुन पुन = बार बार, तद्युगयुग् = उस [रात्रि और चन्द्रमा के] युगल की जोड़ी मिलाने वाला, विधाता = ब्रह्मा, युवा = आप दोनों को युयुक्षु = मिलाने का इच्छुक होता हुआ, स्वभ्यासम् आस्ते नु = क्या निरन्तर अभ्यास कर रहा है ?

अनुवाद—चन्द्रमा के साथ रात्रि के समान तुम नल से सुशोभित होओ। नल भी रात्रि के साथ चन्द्रमा के समान तुमसे सुशोभित हो। बार बार उस रात्रि और चन्द्रमा के युगल की जोड़ी मिलाने वाला ब्रह्मा आप दोनों को मिलाने का इच्छुक होता हुआ क्या निरन्तर अभ्यास कर रहा है?

भावार्थ—जिस प्रकार कोई चतुर व्यक्ति किसी कार्य को सुसम्पन्न करने के लिए उसका निरन्तर अभ्यास करता है। उसी प्रकार रात्रि के साथ चन्द्रमा का मेल कराता हुआ ब्रह्मा दमयन्ती और नल का मेल कराने का अभ्यास कर रहा है।

जीवातुसंस्कृतटीका—फलितमाह—नलेति। शशिना निशेव त्वं नलेन भाया। भातेर्गाशिषि लिङ्। सोऽपि निशया शशीव त्वया भायात्, भाते पूर्ववदाशिषि लिङ्। किं च अत्र दैवानुकूल्यमपि सुभाव्यमित्याह—पु॰ पुनस्तयोर्निशा-शशिनोर्युग युक्ति योजयतीति तद्युगयुक् विधाता युवां नल त्वां च 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि' ति एकशेष। योक्तुमिच्छतीति युयुक्षुः जे सन्नन्तादुप्रत्यय स्वभ्या-सम्भ्यासस्य समृद्धौ निरन्तराभ्यास इत्यर्थ। समृद्ध्यर्थेऽव्ययीभाव। तत पर-स्या सप्तम्या वैकल्पिकत्वादम् भाव। आस्ते नु? तथाऽभ्यस्यति किमित्यर्थ। अत्र तादर्थ्ये चतुर्थ्या अभाव इति व्याख्याने अभ्यासार्थमभ्यस्यतीत्यर्थ स्यात् तदात्माश्रयत्वादित्यपेक्षणीयम्। अत्र दमयन्तीनलयोरन्योन्यशोभाजननोक्तेरन्योन्या-लङ्कार। परस्परक्रियाजननमन्योन्यमि' ति लक्षणात्। उपमाद्वयानुप्राणित इति सङ्कर। तदुक्ता चेय विधातु पुनर्निशाशशियोजनाया दमयन्तीनलयोजनाभ्यास-त्वोत्प्रेक्षेति।

समासविग्रहादि—योजनामिच्छु युयुक्षु।

व्याकरण—भाया = भा + आशीर्लिङ् मध्य पु। युक् = युज् + क्विप् [कर्तरि]। युयुक्षु = युज + सन् + उ।

विशेष—इस पद्य में 'निशेव' शशीव में उपमा अलङ्कार है। दमयन्ती और नल दोनों एक दूसरे की शोभा के जनक होने से अन्योन्यालङ्कार है। नु शब्द उत्प्रेक्षा वाचक है।

पूर्वाभास—नल का पत्रावली की रचना का नैपुण्य दमयन्ती के कुचद्वय पर ही उत्कर्ष को प्राप्त करेगा—

**स्तनद्वये तन्वि! परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य।**
**अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां पत्रावलीनां रचना समाप्तिम्॥११८॥**

अन्वय—एक सुधाशु त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन तृप्तिक्षमो न स्यात्, तत् नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीय (सन्) त्वल्लोचनाऽऽसेचनक अस्तु।

शब्दार्थ —एक सुधाशु =एक चन्द्रमा, त्वन्नयनद्वयस्य=आपके दोनो नेत्रो को, कथञ्चन=किसी प्रकार से, तृप्तिक्षमो=तृप्ति करने मे समर्थ, न स्यात्=नही होगा, तत्=अत, (वह), नल ऽऽ स्यशीतद्युतिसद्वितीय =नल के मुखचन्द्र के साथ दूसरा होता हुआ, त्वल्लोचनाऽऽसेचनक =आपके दोनो नेत्रो का तृप्ति करने वाला, अस्तु=हो।

अनुवाद —एक चन्द्रमा आपके दोनो नेत्रो को किसी प्रकार से तृप्ति करने मे समर्थ नही होगा। अत वह नल के मुखचन्द्र के साथ दूसरा होता हुआ आपके दोनो नेत्रो को तृप्ति करने वाला हो।

भावार्थ—ऐसा माना जाता कि चन्द्रमा को देखकर चकोर सतुष्ट होता है। दमयन्ती के दोनो नेत्र चकोर के समान हैं। उनकी तृप्ति के लिए दूसरा चन्द्रमा चाहिए। वह दूसरा चन्द्रमा नल का मुख ही हो सकता है।

जीवातु सस्कृत टीका—एक इति। एक सुधाशुस्त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन कथञ्चिदपि तृप्तौ प्रीणने क्षमो न स्यात्तत् स्मान्नलाऽऽस्य शीतद्युतिना नलमुखचन्द्रेण सद्वितीय सन् त्वल्लोचनयोरासेचनकस्तृप्ति करोऽस्तु। 'तदासेचनक तृप्तोनास्त्यन्तो यस्य दर्शनादित्यमर। आसिच्यत अननेत्यासेचनक, कर्मणि ल्युट, स्वार्थे क।

समासविग्रहादि—सुधा अशु यस्य स सुधाशु। नयनयोर्द्वयम् नयनद्वयम् तव नयनद्वय तस्य, त्वन्नयनद्वयस्य। नलस्य आस्य नलाऽऽस्य, शीताद्युति यस्य स शीतद्युति। नलाऽऽस्यम् एव शीतद्युति नलाऽऽस्यशीतद्युति, द्वितीयन सहित सद्वितीय, नलाऽऽस्यशीतद्युतिना सद्वितीय इति नलाऽऽस्यशीतद्युति सद्वितीय। तव लोचन तयो आसेचनक इति त्वल्लोचनाऽऽसेचनक।

व्याकरण —शम =शम् + अच। द्वितीय = द्वि + तीय।

विशेष—इस पद्य मे नल के मुख मे चन्द्र का आरोप होने से रूपक अलङ्कार है।

पूर्वाभास —कवि कल्पना करता है कि नल का तप एक कल्पवृक्ष है—

**अहो तप कल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाऽऽस्फुरदङ्कुरश्री।**
**त्वद्भ्रूयुग यस्य खलु द्विपत्री तवाधरो रज्यति यत्फलम्ब ।१२०।**

यस्रो नव पल्लवितः कराभ्यां स्मितेन यः कोरकितस्तवास्ते ।
अङ्गम्रदिम्ना तव पुष्पितो यः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव ।१२१

अन्वय—नवीय तप कल्पतर अहो ! (य) त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्री यस्य त्वद्भ्रूयुग द्विपत्री, तव अधरो यत्प्रलम्बो रज्यति । य ते कराभ्या नव पल्लवित, य तव स्मितेन कोरकित आस्ते । य तव अङ्गम्रदिम्ना पुष्पित य तव एव स्तनश्रिया फलित ।

शब्दार्थ—नलीय = नल का, तप कल्पतर = तप रूपी कल्पवृक्ष, अहो = आश्चर्यजनक है ! (य = जो), त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्री = तुम्हारे नाखूनो के अग्रभागो मे इसके अङ्कुर की शोभा स्फुरित हो रही है, यस्य = जिसके, त्वद्भ्रूयुग = आपकी भौहो का युगल, द्विपत्री = दो पत्ते है, तव = तुम्हारा, अधरो = अधर, यत्प्रलम्बो रज्यति = जिसका लाल नाल हो रहा है, य = जो, ते = तुम्हारे, कराभ्यां = दोनो हाथो से, नव = नवीन, पल्लवित = पल्लववाला है, य = जो, तव = तुम्हारी, स्मितेन = मन्द मुस्कुराहट से, कोरकित = कलो से युक्त, आस्ते = है, य = जो, तव = तुम्हारे, अङ्गम्रदिम्ना = अङ्ग की मृदुता से, पुष्पित = पुष्प युक्त है, य = जो, तव एव = तुम्हारे ही, स्तनश्रिया = स्तन की शोभा से फलित = फलित है ।

अनुवाद—नल का तपरूपी कल्पवृक्ष आश्चर्यजनक है । जो तुम्हारे नाखूनो के अग्रभागो मे इसके अङ्कुर की शोभा स्फुरित हो रही है, जिसके आपकी भौहो का युगल दो पत्ते है, तुम्हारा अधर जिसका लाल नाल हो रहा है, जो तुम्हारे दो हाथो से नवीन पल्लव वाला है, जो तुम्हारी मन्द मुस्कुराहट से कलियो से युक्त है, जो तुम्हारे अङ्ग की मृदुता से पुष्पयुक्त है, जो तुम्हारे ही स्तन की शोभा से फलित है ।

जीवातु संस्कृत टीका—अथ द्वाभ्यां नल तप साफल्यमाह–अहो [illegible] । नलस्याय नलीय, वा नामधेयस्ये' ति वृद्धसज्ञायां वृद्धाच्छ । अतएव [illegible] अभिनव प्रतिद्वन्द्वतरु विलक्षण इत्यर्थ अत एव अहो इत्याश्चर्यं वंशस्थ–[illegible]। अन्वादि यत्तदोर्यो स्फटिक य कल्पतरु तप पाणिजाग्रे [illegible] स्फुरन्ती अङ्कुरश्रीयस्य स अङ्कुरानित्यम, यस्य त्वद्भ्रूयुगमेव द्वयो पत्रयो समाहारो द्विपत्री प्रथमोत्तरपदङ्कम रातु, तवाधरो यत्प्रलम्बो यस्य नालिका [illegible] इत्यथ 'अस्य तु नालिका' इत्यमरः [illegible]' इत्यमर । [illegible] तत्रमेव तता भवति, 'तुषिरजो प्राधान्यत् [illegible]' ति कर्मकर्तरि [illegible] । य इति । यस्य तव कराभ्यां पल्लवित सञ्जातपल्लव यस्तव स्मितेन

कोरकित सञ्जातकोरक सन् आस्ते, यस्तवाङ्गाना मृदिम्ना मार्दवेन पुष्पित सञ्जातपुष्प, यस्तवैव स्तनश्रिया स्तनसौन्दर्येण फलित सञ्जातफल । सर्वत्र तारकादित्वादितच् प्रत्यय । अत्र श्लोकद्वयेन तपसि दमयन्त्या न खादिषु च कल्पतरुतावयवत्वरूपणात्सावयवरूपक तथा अवयविनि कल्पतरोरवयवाना नखाङ्कुरादीनाञ्च मिथ कार्यकारणभूताना भिन्नदेशत्वाद सङ्ग त्याश्रिनमिति सङ्कर, 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि' ति लक्षणात् ।

समासविग्रहादि—नलस्य अयम् नलीय । तप एव कल्पतरु तप कल्पतरु । पाणिभ्याम् जाता पाणिजा , पाणिजानाम् अग्राणि पाणिजाग्राणि । तव पाणि जाग्राणि त्वत्पाणिजाग्राणि । अङ्कुराणा श्री अङ्कुरश्री । स्फुरन्ती अङ्कुरश्रीर्यस्य स्फुरदङ्कुरश्री । त्वत्पाणिजाग्रं स्फुरदङ्कुरश्री इति त्वत्पाणिजाऽग्रस्फुरदङ्कुरश्री । भ्रुवोर्युगम् भ्रूयुग, तव भ्रूयुग त्वद्भ्रूयुग । पल्लवानि सञ्जातानि अस्य स पल्लवित । कोरका सञ्जाता अस्य स कोरकित । अङ्गाना म्रदिमा, तेन अङ्गम्रदिम्ना । पुष्पाणि सञ्जातानि अस्य स पुष्पित । स्तनयो श्री , तया स्तनश्रिया । फले सञ्जाते अस्य स फलित ।

व्याकरण—नलीय =नल+छ (ईय) । द्विपत्री=द्विपत्र+ङीप् । पल्लवित =पल्लव+इतच् । कोरकित =कोरक+इतच् ।

विशेष —इन दो पद्यो मे तप मे कल्पवृक्ष का और दमयन्ती के नख आदि मे अवयवत्व का आरोप करने से साङ्ग रूपक अलङ्कार है । तप रूप कल्पवृक्ष नल के पास है किन्तु उसके अङ्कुर आदि कार्य दमयन्ती मे हैं, अत कार्यकारण भिन्न २ स्थानो मे होने से असङ्गति अलङ्कार है । इसका साङ्गरूपक के साथ सङ्कर है ।

पूर्वाभास—समान अनुराग होने से नल और दमयन्ती का समागम प्रशसनीय है ।

फंसीकृतासीत्खलु मण्डलीन्दो समस्तरश्मिप्रकरा स्मरेण ।
तुला च नाराचलता निजैव मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ वाम् ।१२२।

अन्वय—(हे भैमि), वाम् मिथ अनुरागस्य समीकृतौ स्मरेण समस्तरश्मिप्रकरा इन्दो मण्डली फंसीकृता, निजा एव च नाराचलता तुला आसीत् ।

शब्दार्थ—(हे भैमि=हे दमयन्ती), वाम् =आप दोनो के, मिथ = पारस्परिक, अनुरागस्य=प्रेम के, समीकृतौ=सन्तुलित करने से, स्मरेण=काम-

देव ने, समस्तरश्मिप्रकरा=रश्मि समूह रूपी सूत्रो को जिसमे संयोजित किया है, ऐसे इन्दो=चन्द्रमा का, मण्डली=मण्डल, कसीकृता=कांसे का पलडा बनाया, निजा एव=अपनी ही, नाराचलता=बाणलता, तुला आसीत्=तुला कोटि (बनाई) थी।

अनुवाद—हे दमयन्ती ! आप दोनो के पारस्परिक अनुराग के सन्तुलित करने मे कामदेव ने रश्मिसमूह रूपी सूत्रो को जिसमे संयोजित किया है, ऐसा चन्द्रमा के मण्डल को कांसे का पलडा बनाया एवम् अपनी ही बाणलता को दण्डी बनाया था।

भावार्थ—कवि कल्पना करता है कि नल और दमयन्ती के आपस के अनुराग का तौलने के लिए कामदेव ने अपनी किरणो रूपी धागो का जिसमे बाधा है, ऐसे चन्द्रमा के मण्डल को कांस का पलडा बनाया एवम् अपनी ही बाण-लता को दण्डी बनाया था।

जीवातुसंस्कृतटीका—किञ्च समानुरागत्वाच्च युवयो समागम स्या-दित्याशयेनाह—कमीति। स्मरेण कर्त्रा वा युवयोर्मिथो ऽनुरागस्य अन्योन्यराग-स्य, यस्तव तस्मिन्, यच्च तस्य त्वयि, तयोरनुरागयोरित्यर्थ। समीकृतौ समीकरणे निमित्ते तदर्थमित्यर्थ। समस्त सयोजित रश्मीनाममूनां सूत्राणाञ्च प्रकर समूहो यस्या सा 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमर। इन्दोर्मण्डली बिम्ब कसीकृता आसीत्। 'कंसो ऽस्त्री लोहभाजनमि' ति शाश्वत मण्डने। मण्डले निजा नाराचलता बाण-वल्ली सैव तुला तुलादण्डीकृतेति शेष। तथेन्दुमण्डलादौ कंसादि रूपणादेवस्य-स्मरस्य रागकारणरूपसिद्धेरेकदेशविवर्ति रूपकम्॥

समासविग्रहादि—रश्मीना प्रकर रश्मिप्रकर, समस्तो रश्मिप्रकरो यस्या सा समस्तरश्मिप्रकरा। नाराच एव लता नाराचलता।

व्याकरण—समीकृतौ=सम+च्वि+ईत्वम+कृ+क्तिन् सप्तमी।

विशेष—इस पद्य मे चन्द्रमा के मण्डल को कांसे का पलडा, किरणो को रश्मियां तथा काम के बाणो को दण्डी कहा गया है, अत रूपक अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हंस पुन नल और दमयन्ती के समागम की कामना करता है—

सत्त्वश्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु।
लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्ररेखास्तन्निर्गतास्तत् प्रविशन्तु भूय ॥१२३॥

अन्वय—मदनोत्सवेषु सत्त्वसु तस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे लग्नोत्थिता तन्निर्गता त्वत्कुचपत्ररेखा भूय तत् प्रविशतु ॥

शब्दार्थ —मदनोत्सवेषु=मदनोत्सव मे, सत्त्वसुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे=सात्विक भाव मे निकले पसीना रूपी मोम से गाढ, तत्पाणिपद्मे=नल के कर-कमल ने, लग्नोत्थिता=लगी हुई, तन्निर्गता=नल के हस्तकमल से लिखित, त्वत्कुचपत्ररेखा=तुम्हारे स्तनो की पत्र रेखायें, भूय=पुन, तत् प्रविशन्तु=नल के हस्तकमल मे ही प्रवेश करें।

अनुवाद —मदनोत्सव मे सात्विक भाव से निकले पसीना रूपी मोम से गाढ, नल के करकमल मे लगी हुई, उसी (नल) के द्वारा लिखित तुम्हार स्तनो की पत्ररेखायें पुन नल के हस्तकमल मे ही प्रवेश करें।

भावार्थ —कार्य का विलय कारण मे हो जाता है, इस सिद्धान्त के अनुसार दमयन्ती के स्तनो पर नल ने जो पत्रावलियाँ बनाई थी, वे रतिकाल मे स्तनो के गाढ निपीडन के समय नल के पसीने युक्त हाथ से पुछ जायगी।

जीवातु सस्कृत टीका—सत्त्वेति । किं च मदनोत्सवेषु रतिकेलिषु सत्त्वेन मनोविकारेण सूतो य स्वेद सात्त्विकविकार विशेष तेनैव मधूच्छिष्टेन मधूच्छिष्टेन सान्द्रे निरन्तरे अतएव तस्य नलस्य पाणिपद्मे लग्ना समान्ता । अतएव उत्थिता उत्कुचनटाद्विश्लिष्टा । मधूच्छिष्टे निवपस्यनकरेखावदिति भाव । स्नानानुलिप्तवत्पूर्वकालसमास । तन्निर्गता । तत्पाणिपद्मोत्पन्ना त्वत्कुचपत्ररेखा भूय तत् पाणिपद्म 'वा पुमि पद्म नलिनमित्यर । प्रविशन्तु । कार्यस्य कारणे लयनियमादिति भाव । पुनया- समागमो ऽस्तु इति तात्पर्यम् ।

समासविग्रहादि—सत्त्वस्य उत्सवा तेषु मदनोत्सवेषु । सत्त्वेन सूत , स चा ऽसौ स्वेद , मधुन उत्तिष्ठतीति मधूत्थम् सत्त्वसूत स्वेद एव मधूत्थम् तेन सान्द्रस्तस्मिन् सत्त्वसूतस्वेदमधूत्थसान्द्रे, पाणि पद्मम् इव, तस्य पाणिपद्म तस्मिन् तत्पाणिपद्मे । तेन निर्गता तन्निर्गता । तव कुचौ तयो पत्ररेखा इति त्वत्कुचपत्ररेखा ।

व्याकरण—मधूत्थम् = मधु + स्था + क । सान्द्र = सह + अन्द्र ।

विशेष—इस पद्य मे रूपक अलङ्कार है।

पूर्वाभास—नल तथा दमयन्ती की रतिकेलि का देवता भी स्मरण करेंगे।

बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितै: केलिवने मरुद्भिः।
प्रसूनवृष्टिं पुनरुक्तमुक्तां प्रतीच्छतं भैमि ! युवा युवानौ ॥१२४॥

अन्वय—हे भैमि। युवानौ युवाम् केलिवने बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्ध-प्रमोदितैं मरुद्भि पुनरुक्त मुक्ता प्रसूनवृष्टिम् प्रतीच्छतम्।

शब्दार्थ—हे भैमि=हे दमयन्ती, युवानौ=जवान, युवाम्=तुम दोनो, केलिवने=क्रीडा वन मे, बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैं=आसनो से समृद्ध अनेक रतिक्रीडा रूप मल्लयुद्धो से प्रसन्न बनाए गए, मरुद्भि=वायुओ और देवो से पुनरुक्तमुक्ता=बार बार छोडी हुई, प्रसूनवृष्टिम्=पुष्पवृष्टि, प्रतीच्छ-तम=स्वीकार करो।

अनुवाद—हे दमयन्ती! जवान तुम दोनो क्रीडावन में आसनो से समृद्ध अनेक रतिक्रीडा रूप मल्लयुद्धो से प्रसन्न बनाए गए वायुओ और देवो से बार बार छोडी हुई पुष्पवृष्टि स्वीकार करो।

भावार्थ—युद्ध भूमि मे जिस प्रकार वीरो को लडते हुए देखकर देवता प्रसन्न हो, फूलो की वर्षा करते है, उसी प्रकार अनेक आसनो से युक्त तथा रति-क्रीडा रूप मल्लयुद्ध को करते हुए नल तथा दमयन्ती को देखकर देवता तथा वायु प्रसन्न हो जायेंगे और वे उन दोनो के ऊपर पुष्पवृष्टि छोडेंगे।

जीवातुसंस्कृतटीका—बन्धेति। किं च हे भैमि! बन्धैरत्तानादिकरणै कामशास्त्रप्रसिद्धैराढ्य समृद्ध नानारतमुत्तानकादिविविधसुरत तदेव मल्लयुद्ध तेन प्रमोदितैं सन्तोषितै केलिवने मरुद्भि वायुभिर्देवैश्च 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमर। पुनरुक्त मुहु यथा तथा मुक्ता प्रसूनवृष्टिम युवतिश्च युवा च युवानौ, 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेष। युवां प्रतीच्छत स्वीकुरुतम्। युद्धविजेता हि देवै पुष्पवृष्ट्या सम्भाव्यत इति भाव।

समासविग्रहादि—बन्धै आढ्य, बन्धाढ्य, तच्च तत् नानारतम्, बन्धाढ्यनानारतम्। तदेव मल्लयुद्ध, तेन प्रमोदिता तैं बन्धाढ्यनाना रतमल्लयुद्ध-प्रमोदितैं। केलेवन केलिवन, तस्मिन् केलिवने। पुनरुक्त यथा तथा मुक्ता, ताम्, पुनरुक्तमुक्ता। प्रसूनानां वृष्टि, ताम्, प्रसूनवृष्टिम्। युवतिश्च युवा च युवानौ।

व्याकरण—रतम्=रम्+क्त (भावे)। प्रतीच्छत=प्रति+इष्+लोट् +थस्।

विशेष—यहाँ पर नानारत पर मल्लयुद्ध का आरोप किया गया है, अत रूपक अलङ्कार है।

पूर्वाभास—हंस चाहता है कि नल और दमयन्ती का मन कामदेव के शरीर के सृजन में लगे।

अन्योन्यसङ्गमवशादधुना विभाता तस्याऽपि तेऽपि मनसी विकसद्विलासे।
स्रष्टु पुनर्मनसिजस्य तनु प्रवृत्तमादाविव द्वयणुककृत्परमाणुयुग्मम् ॥१२५॥

अन्वय—(हे भैमि!) अधुना अन्योन्यसङ्गमवशात् विकसद्विलासे तस्य अपि ते अपि मनसी मनसिजस्य तनु पुन स्रष्टु प्रवृत्तम् आदौ द्वयणुककृत् परमाणुयुग्मम् इव विभाताम्।

शब्दार्थ — (हे भैमि=हे दमयन्ती), अधुना=इस समय, अन्योन्यसङ्गमवशात्=एक दूसरे के मिलन से, विकसिद्विलासे=विकसित विलास वाला, तस्य अपि=नल का भी, ते अपि=तुम्हारे भी, मनसि=मन से, मनसिजस्य—कामदेव के, तनु=शरीर का, पुन स्रष्टु=पुन सृजन करने के लिए, प्रवृत्तम=प्रवृत्त, आदौ=प्रारम्भ में, द्वयणुककृत्=द्वयणुक बनाने वाले, परमाणुयुग्म् इव=दो परमाणुओं की तरह, विभाताम्=सुशोभित हो।

अनुवाद—हे दमयन्ती! इस समय एक दूसरे के मिलन से विकसित विलास वाला नल और तुम्हारे भी मन कामदेव के शरीर का पुन सृजन करने के लिए प्रवृत्त प्रारम्भ में द्वयणुक बनाने वाले दो परमाणुओं की तरह सुशोभित हों।

भावार्थ—जिस प्रकार दो परमाणु मिलकर द्वयणुक की रचना करते हैं, उसी प्रकार नल और दमयन्ती दोनों के मन मिलकर कामदेव के शरीर की रचना में लग जांय।

जीवातु सम्कृत टीका—अन्योन्येति। किं च, अधुना अन्योऽन्यसङ्गम-वशाद्विकसिद्विलास वर्द्धमानोल्लासे तस्यापि ते ऽपि नलस्य तव च मनसी मनसि-जस्य कामस्य तनु शरीर पुन स्रष्टुमारब्धु प्रवृत्तमत एवादौ द्वाभ्यामारब्धं कार्यं द्वयणुक तत्करोतीति तत्कृत् तदारम्भक, करोते क्विप्। तत्परमाणुयुग्ममिवेत्युत्प्रेक्षा। तार्किकमते मनसो ऽणुत्वादिति भाव। विभाता कार्यारम्भक परमाणुयुग्मवदविश्लेषेण विराजितामित्यर्थ। भातेर्लोट्, 'तस्थे' ति तम ताम।देश ॥

समासविग्रहादि—अन्योन्यो सङ्गम तस्य वश, तस्मात् अन्योन्य-सङ्गमवशात्। विकसत विलासो यस्मिन् इति विकसद्विलासे। परमाण्वोर्युगमम् परमाणुयुग्म।

व्याकरण—स्रष्टुं=सृज+तुमुन्। दिशाता=दिश+आ+लोट+तम् (ताम्)।

विशेष—इस पद्य में दो मनों में दो परमाणुओं की कल्पना करने से उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। मनसिज शब्द का प्रयोग यहाँ साभिप्राय किया गया है, अतः परिकर अलङ्कार है।

इस पद्य में वसन्ततिलका छन्द है। जहाँ तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु होते हैं, वहाँ वसन्ततिलका छन्द होता है।

पूर्वाभास—कामदेव धनुष के रूप में दमयन्ती को पाकर प्रसन्न है—

कामः कौसुमचापदुर्जयममुं जेतुं नृप त्वां धनु
र्वल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्य माद्यत्यसौ।
ग्रीवालङ्कृतिपट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कचरेखयेव निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया ॥१२६॥

अन्वय—असौ कामः कौसुमचापदुर्जयम् अमुं नृप जेतुम् अव्रणवंशजाम् अधिगुणां निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया कचरेखया इव पृष्ठे कियल्लम्बया ग्रीवा अलङ्कृति-पट्टसूत्रलतया भ्राजिष्णुं त्वाम् एव धनुर्वल्लीम् आसाद्य माद्यति।

शब्दार्थ—असौ कामः=वह कामदेव, कौसुमचापदुर्जयम्=फूलों के धनुष से न जीते जाने वाले, अमुं नृप=इस राजा नल को, जेतुं=जीतने के लिए, अव्रणवंशजाम्=अच्छे कुल में उत्पन्न, अधिगुणां=अधिक गुणों वाली, निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया=सिन्दूर के सौन्दर्य से युक्त कचरेखया इव=केश की रेखा के समान, पृष्ठे=पीठ पर, कियल्लम्बया=कुछ लटकने वाले, ग्रीवालङ्कृतिपट्टसूत्रलतया—गर्दन के भूषण रेशमी वस्त्र की सुन्दरता से, भ्राजिष्णु=चमकने वाली, त्वाम् एव=तुम्हें ही धनुर्वल्लीम्=धनुलता के रूप में, आसाद्य—प्राप्त कर, माद्यति—मतवाला हो रहा है।

अनुवाद—वह कामदेव फूलों के धनुष से न जीते जाने वाले इस राजा नल को जीतने के लिए अच्छे कुल में उत्पन्न, अधिक गुणों वाली सिन्दूर के

सौंदर्य से युक्त धर्पण की रेखा के समान पीठ पर कुछ लटकने वाले गर्दन के भूषण रेशमी वस्त्र की सूत्रलता से चमकने वाली तुम्हें ही धनुलता के रूप में प्राप्त कर मतवाला हो रहा है।

भावार्थ—कामदेव पुष्पधन्वा कहा जाता है, वह अपने पुष्प धनुष से नल को नहीं जीत सकता है अत धनुलता के रूप में दमयन्ती को पाकर वह मतवाला हो रहा है। दमयन्ती अपने कण्ठ में आभूषण धारण किए है। यह आभूषण सिन्दूरी रंग के धागे में गुथा हुआ है उसकी धुंडी पीठ पर लटक रही है। इस प्रकार दमयन्ती रूपी धनुलता की पीठ सिन्दूरी रंग में रंगी है। अच्छे कुल में उत्पन्न तथा गुणवती दमयन्ती रूप धनुलता को पाकर कामदेव प्रसन्न है।

जीवातु संस्कृत टीका—काम इति। असौ यो नलजिगीषुरिति भाव। काम· कौसुमेन चापेन दुर्जय जितेन्द्रियत्वादिति भाव। अमु नृप जल जेतुमव्रण-वशजा सत्कुलप्रसूता त्वद्वेणुजन्याञ्च, 'द्वौ वंशौ कुलमस्करावि' त्यमर अधिगुणा-मधिकलावण्यादि गुणमधिज्याञ्च निवसदनुदतमान सिन्दूरस्याङ्कुरावस्थाया नालान्तराले क्षिप्तस्य सौन्दर्य शोभा यस्या तया कषरेखया कालान्तरे सिन्दूरसूत्रा-न्निपरीक्षार्थं कृत धप इत्येवेत्युत्प्रेक्षा। पृष्ठे ग्रीवापश्चाद्भागे कियत् किञ्चि-द्यया तथा लम्बया ग्रीवालङ्कृति ग्रीवालङ्कारभूता या पट्टसूत्रलता तया भ्राजिष्णु तच्छीलं 'भुवश्च' ति चकारादिष्णुच। भ्राजमाना त्वामेव धनुर्वल्ली, चापलतामासाद्य माद्यति हृष्यति। श्लेषोत्प्रेक्षासङ्कीर्णो रूपकालङ्कार।

समासविग्रहादि—कुसुमानामयं कौसुम, कौसुमश्चासौ चाप कौसुमचाप तेन दुर्जय तम् कौसुमचापदुर्जयं। अविद्यमान व्रण यस्मिन् स अव्रण, स चासौ वंश तस्मिन् जाता, ताम् अव्रणवंशजाम्। अधिका गुणा यस्या सा ताम् अधिगुणाम्। सिन्दूरस्य सौन्दर्यम् सिन्दूरसौन्दर्यम्, निवसत् सिन्दूरसौन्दर्य यस्या सा निवसत्सिन्दूरसौन्दर्या। कषस्य रेखा, तया, कषरेखया। ग्रीवाया अलङ्कृति ग्रीवालङ्कृति, पट्टस्य सूत्र पट्टसूत्रम्, पट्टसूत्रम् एव लता तया, ग्रीवालङ्कृति-पट्ट-सूत्रलतया। भ्राजते तच्छीला भ्राजिष्णु, ताम्, भ्राजिष्णु। धनुरेव वल्ली ताम् धनुर्वल्लीम्।

व्याकरण—कौसुम = कुसुम + अण्। भ्राजिष्णुम् = भ्राज + इष्णुच्। माद्यति = मदी + लट् + तिप्।

विशेष—इस पद्य में दमयन्ती पर धनुर्लता का आरोप किया गया है, अत रूपक अलङ्कार है। अव्रणवंशजाम् तथा अधिगुणाम् में श्लेष है। इस तरह रूपक और श्लेष की संसृष्टि है।

इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

पूर्वाभास —कवि यहाँ दमयन्ती को गोली छोड़ने वाली धनुर्मञ्जरी के रूप में चित्रित करता है—

त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिकास्त राजहंसं विभो
र्वेध्य विद्धि मनोभुव स्वमपि तां मञ्जु धनुर्मञ्जरीम्।
यन्नित्याङ्कनिवासलालिततम ज्याभुज्यमान लस-
न्नाभीमध्यबिला विलासमखिल रोमाऽऽलिरालम्बते ॥१२७॥

अन्वय—(हे भैमि) विभो मनोभव त्वद् गुच्छावलि-मौक्तिकानि गुटिका विद्धि तम् राजहंसम् वध्यम् (विद्धि) स्वम् अपि च ताम् मञ्जुम् धनुर्मञ्जरीम् (विद्धि) यन्नित्याङ्कनिवासलालिततम ज्याभुज्यमान अखिलम् विलासम् लसन्नाभीमध्यबिला (तव) रोमालि आलम्बते।

शब्दार्थ—हे भैमि=हे दमयन्ती, विभो—सब व्यापक, मनोभव=काम को, त्वद् गुच्छावलि मौक्तिकानि=तुम्हारे हार पंक्तियों के मोतियों को, गुटिका=गोलियाँ, विद्धि=समझो, तम्=उस, राजहंसम्=राजाओं में श्रेष्ठ नल को वध्यम्=वधन योग्य पात्र, (विद्धि=समझो), च स्वम् अपि=और अपने को भी, ताम् मञ्जुम्=वह मनोहर, धनुर्मञ्जरीम् विद्धि=धनुर्मञ्जरी समझो, यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमान—जिसकी गोद में सदैव निवास करने से लाड़ से लचाई गई धनुष की डोरी पर रखी गई, अखिलम्=सम्पूर्ण, विलासम्=लीला विलास को लसन्नाभीमध्यबिला=जिसमें चमकती हुई नाभि मध्य के छिद्र का काम कर रही है ऐसी, (तव=तुम्हारी), रोमालि=रोमपंक्ति, आलम्बते=आश्रय कर रही है।

अनुवाद—हे दमयन्ती! तुम्हारे हारपंक्तियों के मोतियों को सर्वव्यापक काम की गोलियाँ समझो। उस राजाओं में श्रेष्ठ नल को वधन योग्य पात्र समझो और अपने को भी यह मनोहर धनुर्मञ्जरी समझो, जिसकी गोद में सदैव निवास करने से लाड़ से लचाई गई धनुष की डोरी पर रखी गई, सम्पूर्ण लीला विलास का जिसमें चमकती हुई नाभि मध्य के छिद्र का काम कर रही है ऐसी तुम्हारी रोमावलि आश्रय कर रही है।

भावार्थ—यहाँ दमयन्ती को धनुर्मञ्जरी, दमयन्ती के गले में पड़ी हुई माला के दानों को मिट्टी की बनी गोलियाँ तथा राजा नल को वेध्य बता-

गया है। दमयन्ती के शरीर की रोमपंक्ति धनुष की डोरी है, नाभि मौली रखने का स्थान तथा कामदेव सर्वसमय वहेलिया है। इस प्रकार दमयन्ती के माध्यम से कामदेव नल को वश मे करना चाहता है।

जीवातु संस्कृत टीका—त्वदिति। विमोमनोभुव कामस्य पक्षिवेदधु—रिति शेष। तव गुच्छावलेमु क्ताहारविशेषस्य मुक्ता एव मौक्तिकानि, 'विनयादि—त्वात् स्वार्थ ठगि' ति वामन। गुटिका गुलिका विद्धि जानाहि। त राजहंस राजश्रेष्ठ तमेव राजहंस श्लिष्टरूपकम्। 'राजहंसो नपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयो—रिति विश्व। वेधितु प्रहर्तुमह वेध्य लक्ष्य विध—विधाने न्हहलोर्ण्यन्' अनेकार्था धातव' एवमाह—'वेधितच्छिद्रितावि' त्यत्र स्वामी। अ य न्वाद् —स्वप्नेऽपि विधा-नार्थ एव प्रयोगाच्च विध—वेधन इत्येवाकारस्य पाठ पाठान्तर तु प्रायादिकम—न्धकारपरम्परायातमिति विद्धि। स्वमात्मानमपि न्वो ज्ञातावात्मनि स्वमि' त्यमर। ना वक्ष्यमाण प्रकारा मञ्जु मञ्जुला म मञ्जरी चापवल्लरी विद्धि, यस्या नित्यमङ्क निवासेन समीपस्थितया लालितमया अत्याहतया ज्यया मौर्व्या भुज्यमानमनु भूयमान मखिल विलास शोभा ज्यारूपतामित्यर्थ। लसन्नाभ्येव मध्य विलङ्गुलिकास्थान यस्या सा रोमालिस्त्वद्रोमराजितद्भवत भवति। अत्र मौक्ति—कादौ गुटिकाद्यवयवरूपणादवयविनि कामे वेदधुत्वरूपणस्य गम्यमानत्वादेकदेश विवर्तिसावयवरूपकमलङ्कार,

समासविग्रहादि—गुच्छानाम् आवलि गुच्छावलि, तव गुच्छाऽऽवलि तस्या मौक्तिकानि, त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि। राजा हंस इव तम् राजहंस। वेधितु योग्य, तम् वेध्य। धनुषो मञ्जरी, ताम् धनुमञ्जरी। नित्यम् अङ्क—निवास यस्या नित्याऽङ्कनिवास, तस्या नित्याङ्कनिवास यनित्याङ्कनिवास, अतएव लालिता लालितमा, लालितमा चासौ ज्या, यनित्याङ्कनिवासन लालितमनमज्या, तया भुज्यमान तम् यनित्याऽङ्कनिवासलालित तमज्याभुज्य—मानम्। मध्य य तत् विलम् मध्यविलम्, नाभी एव मध्यविलम्, लसत् नाभी—मध्यविल यस्या सा लसन्नाभीमध्यविला। रोम्णाम् आलि रोमाऽऽलि।

व्याकरण—वेध्यम् ‖ विध्+ण्यत्। भज्यमानम्=भज्+शानच्।

विशेष—इस पद्य में मौक्तिक आदि मे गुटिकादि अवयव का शब्द आरोप और अवयवी काम मे वेद्धृत्व का अर्थ आरोप होने मे एकदेशविवर्ति सा ऽ वयव रूपक अलङ्कार है।

यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

पूर्वाभास—नल पर विजय पाने के लिए कामदेव के पास दमयन्ती के अतिरिक्त कोई साधन नही है—

पुष्पेषुश्चिकुरेषु ते शरचयं स्वं भालमूले धनू
रौद्रे चक्षुषि यज्जितस्तनु मनु भ्राष्ट्रे च यश्चिक्षिपे ।
निर्विद्याश्रयदाश्रमं स वितनुस्त्वां तज्जयायाधुना
पत्रालिस्त्वदुरोजशैलनिलया तत्पर्णशालायते ॥१२८॥

अन्वय—य पुष्पेषु यज्जित निर्विद्य ते चिकुरेषु स्व शरचय, भालमूले धनु रौद्रे चक्षुषि अनुभ्राष्ट्रे तनु चिक्षिपे । स वितनु (सन्) अधुना तज्जयाय त्वाम् आश्रमम् आश्रयत् । (अतएव) त्वदुरोजशैलनिलया पत्रालि तत्पर्णशालायते ।

शब्दार्थ—य =जिस, पुष्पेषु =कामदेव ने, यज्जित =नल से हार-कर, निर्विद्य=ग्लानि का अनुभव कर, ते चिकुरेषु=तुम्हारे केशो में, स्व=अपने, शरचय=बाण समूह को भालमूले=(तुम्हारे) मस्तक के भाग मे धनु =धनुष, रौद्रे चक्षुषि=रुद्र के नेत्र रूप अनुभ्राष्ट्रे =भाड मे, तनु चिक्षिपे=शरीर को डाल दिया है। स =उस वितनु —शरीर रहित (सन्=होकर), अधुना=इस समय, तज्जयाय=नल पर विजय पाने के लिए, त्वाम् आश्रमम् आश्रयत्= आश्रम के समान तुम्हारा आश्रय लिया है। (अतएव) त्वदुरोजशैलनिलया= तुम्हारे पर्वत रूप स्तनो मे, पत्रालि =पत्र रचना (पत्रो का समूह), तत्पर्णशाला-यते=उसकी पर्णशाला के समान आचरण कर रही है।

अनुवाद—जिस कामदेव ने नल से हारकर ग्लानि का अनुभव कर तुम्हारे केशो मे अपने (फूलो के) बाण समूह को, तुम्हारे मस्तक के भाग (भौहो) मे धनुष तथा रुद्र के नेत्र रूप भाड मे शरीर को डाल दिया है। उसने शरीर रहित होकर इस समय नल पर विजय पाने के लिए आश्रम के समान तुम्हारा आश्रय लिया है, अतएव तुम्हारे पर्वत रूप स्तनो मे पत्र रचना (पत्रो का समूह) उसकी पर्णशाला के समान आचरण कर रही है।

भावार्थ—कामदेव ऐसा नल से हारकर ग्लानि का अनुभव कर कुटी बनाकर रहा है। दमयन्ती के केशो मे उसने पुष्प रूप बाण छोड दिये है। दमयन्ती की भौह उसकी धनुष है तथा उसने रुद्र के नेत्र रूप भाड मे अपने शरीर को डाल दिया है। शरीर रहित होकर भी वह नल को जीतना चाहता है, अत उसने दमयन्ती को आश्रम बनाया है तथा वह दमयन्ती के स्तनो की पत्ररचना को अपनी पर्णशाला बनाए हुए है।

जीवातुसंस्कृतटीका—पुष्पेषुरिति। य पुष्पेषु कामो यज्जितो येन नलेन मो ग्लानरान्तर अतएव निर्विद्य ईर्ष्येत। जीवन वैफल्यं मत्वेत्यर्थं। शरच-

ज्ञानोदितेष्यदिर्निर्वेदो निष्फलत्वधीरि' ति लक्षणात् । ते=तव, चिकुरेषु=केशेषु, स्व स्वकीय शरचय त्वयघृतकुसुमव्याजादिति भाव । मालमूले ललाटमागे धनु भ्रूव्याजादिति भाव । तया रौद्रे रुद्रसम्बन्धिनि चक्षुष्येव अनुभाष्ट्रमम्बरीये, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । स्वरितेस्वात्तड् । स पुष्पेषुर्वितनुरनङ्ग सन् अधुना तज्जयाय नलविजयाय त्वामेवाश्रम तपोवनमाश्रयात् आश्रितवान् तपश्चर्यार्थमिति शेष । अन्यथा कथ त जेष्यतीति भाव । अतएव त्वदुरोज एव शैली निलयो यस्या सा तन्निष्ठेत्यर्थं । पत्रालि पत्ररचना पगधयश्च तस्य कामस्य पर्णशालायते सेवा-चरति । उपमानात् कर्तु क्यङ् । अत्र पूर्वार्द्धे शरचापादीना पुर्वोक्तपुष्पादिविषय निगरणेन तदभेदाद यवसायाद्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्ति , तत्पणशालायत इत्युपमा चोत्थापितेन त्वामाश्रममिति रूपकेण सङ्कीर्णा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या कामस्या-श्रमाश्रयणोत्प्रेक्षेति सङ्कर ।

समासविग्रहादि—पुष्पाणि इषव अस्य स पुष्पेषु । युन जिन यज्जित । शराणा चय , तम् शरचय । मालस्य मूल, तस्मिन्, मालमूल । विगना तनुर्यस्य स वितनु । तस्य जय , तस्मै, तज्जयाय । त्वदुरोजशैलो निलय यस्या सा त्वदुरोजशैलनिलया । पत्राणामालि पत्रालि । पर्णाना शाला पर्णशाला तस्यपण-शाला, तत्पर्णशाला इव आचरनि तत्पर्णशालायते ।

व्याकरण—निश्रित=निर्+श्रि+क्त्वा (ल्यप्) । रौद्रे=रुद्र+अण् +ङि । पर्णशालायते=पर्णशाला+क्यङ् ।

विशेष—इस पद्य में पूर्वार्द्ध मे शर और चाप आदियों का पूर्वोक्त पुष्प आदि विषय का निगरण करने में उनके साथ अभेद का अध्यवसाय होने से अभेद लक्षण अतिशयोक्ति है । 'तत्पर्णशालायते' कहने से उपमा, और 'त्वाम् आश्रमम्' कहने से रूपक से सङ्कीर्ण, उत्प्रेक्षावाचक इव आदि का प्रयोग न होने से प्रतीय-मानोत्प्रेक्षा-इस तरह यहाँ इन सबका सङ्कर है ।

यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

पूर्वाभास—दमयन्ती की सखियो के आने पर हंस चला गया—

इत्यालपत्यथ पतत्रिणि तत्र भैमीं सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपरा: परीयु ।
शर्मास्तु ते विसृज मामिति सोऽभ्युदीर्य, वेगाज्जगाम निषधाऽधिप राजधानीम् ॥१२६॥

अन्वय—तत् पतत्रिणि भैमीम् इति आलपति (सति) अथ चिरात् तदनुरुन्धिपरा सख्य परीयु । सो ऽपि ते शम अस्तु, मा विसृज इति उदीर्य वेगात् निषधा ऽधिपराजधानीं जगाम।

शब्दार्थ—तत् पतत्रिणि=उस पक्षी के, भैमीम्=दमयन्ती से, इति आलपति सति=ऐसा कहने पर, अथ चिरात्=अनन्तर बहुत देर से, तदनुरुन्धिपरा=उस दमयन्ती को खोजने में लगी हुई, सख्य=सखियों ने, परीयु=घेर लिया। सो ऽपि=हंस ने भी ते=तुम्हारा शम=कल्याण, अस्तु=हो, मा=मुझे, विसृज=विदाई दो इति उदीर्य=ऐसा कहकर, वेगात्=वेग से, निषधा-ऽधिपराजधानी=राजा नल की राजधानी में जगाम=चला गया।

अनुवाद—उस पक्षी के दमयन्ती से ऐसा कहने के अनन्तर बहुत देर से उस दमयन्ती को खोजने में लगी हुई सखियों ने घेर लिया। हंस ने भी तुम्हारा कल्याण हो, मुझे विदाई दो ऐसा कहकर वेग से (वह) राजा नल की राजधानी में चला गया।

जीवातु संस्कृत टीका—इतीति। तत तस्मिन् पतत्त्रिणि हंसे भैमी-मिति इत्यमालपति भाषमाणे सति अथास्मिन्नवसरे चिरात्प्रभृति तस्या भैम्या अनुरुन्धिरन्वेषणम्, 'उपसर्गे घो किः' इति कि । तत्परा सख्य परीयु परिवव्रु, इणो लिट्। हंसोऽपि ते शर्म शर्मास्तु शुभमस्तु, मां विसृज' इत्युदीर्य उक्त्वा वेगा-न्निषधाधिपराजधानी जगाम।

समासविग्रहादि—तस्या अनुरुधि, तस्मिन् परा इति तदनुरुधि-परा। निषधानाम् अधिप, राजा धीयतेऽस्यामिति राजधानी, निषधाधिपस्य राजधानी, ताम् निषधाधिपराजधानी।

व्याकरण—पतत्रिणि=पतत्र+इनि+ङि। आलपति=आङ्+लप +शतृ+ङि। परीयु=परि+इण्+लिट्+झि। विसृज=वि+सृज+लोट् +सिप्। उदीर्य=उद्+ईर+क्त्वा (ल्यप्)।

विशेष—'ते शर्म अस्तु' पद में आशीर्वाद अलङ्कार है।

इस पद्य में समवृत्तिवृत्त छन्द है।

पूर्वाभास—हंस से नल के गुणों के विषय में सुनकर दमयन्ती प्रणय के कारण अत्यधिक सन्तप्त हुई—

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रितामाश्रयात्
प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् ।
स्वादं स्वादमसीममृष्टसुरभि प्राप्ताऽपि तृप्तिं न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि ।१३०

अन्वय—सा चेतो जन्मशरप्रसूनमधुभि व्यामिश्रताम् आश्रयत्, असीम मृष्टसुरभि प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन रसात् स्वाद स्वाद अपि न तृप्ति प्राप्ता, नितान्तम् तापम् प्राप, अन्त अतुला मूर्च्छाम् अपि आनच्छ ।

शब्दार्थ—सा=वह दमयन्ती चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभि=कामदेव के बाण रूप पुष्पों के मधु से, व्यामिश्रताम् आश्रयत्=मिश्रित, असीममृष्ट सुरभि= अत्यन्त मीठे और सुगन्धित, प्रेयोदूत पतङ्गपुङ्गवगवी है यङ्गवीन=प्रियतम के दूत श्रेष्ठ पक्षी की वाणी रूपी नवनीत को, स्वाद स्वाद अपि=वार बार चख- कर भी, न तृप्ति प्राप्ता=तृप्ति को प्राप्ति नहीं हुई, नितान्तम्=अत्यधिक, तापम्=सन्ताप को, प्राप=प्राप्त हुई, अन्त=हृदय में, अतुला=अतुल्य, मूर्च्छाम्=मूर्च्छा को, अपि=भी, आनर्च्छ=प्राप्त हुई ।

अनुवाद—वह दमयन्ती कामदेव के बाण रूप पुष्पों के मधु से मिश्रित अत्यन्त मीठे और सुगन्धित प्रियतम के दूत श्रेष्ठ पक्षी की वाणी रूपी नवनीत को बार बार चखकर भी तृप्ति को प्राप्त नहीं हुई, । हृदय में अतुल्य मूर्च्छा को भी प्राप्त हुई ।

भावार्थ—जिस प्रकार मधु मिला हुआ घी विष हो जाता है, उसी प्रकार दमयन्ती काम के बाण रूप पुष्पो के मधु से मिश्रित अत्यन्त मीठी वाणी रूप नवनीत के स्वाद के कारण और अधिक सन्ताप, एवम् मूर्च्छा को प्राप्त हुई ।

जीवातुसंस्कृतटीका—चेत इति । सा भैमी चेतोजन्मनः कामस्य शरप्रसूनाना शरभूतपुष्पाणां मधुभिस्तद्रसैः क्षौद्रैश्च 'मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रे' इत्यमरः । व्यामि- श्रतामाश्रयत् तया मिश्र सदित्यर्थः । असीम नि सीमम् अपरिमितमित्यर्थः । नकारान्तोत्तरपदो बहुव्रीहि । मृष्टं शुद्धम् । अन्यनामत्व तच्च तत् सुरभि सुगन्धि च, सन्ज्ञपूर्व्वद्विगिणसमासः । प्रेयसो नलस्य दूत सन्देशहरो य पतङ्ग पुङ्गव इव पतङ्गपुङ्गवो हंसश्रेष्ठ पुमान् गौ पुङ्गव । 'गोरतद्धितलुकी' ति टच्, तस्य गौर्वाक् तद्गवी पूर्ववत् टचि 'टिड्ढाणञि' त्यादिना ङीप। सैव हैयङ्गवीन ह्योगो- दोहोद्भव घृतमिति रूपकम् । 'हैयङ्गवीन सञ्ज्ञायामि' ति निपात । तद्‌गवी तद्रेनु

तस्या इति च गम्यते स्माद्यमाद् स्वाद स्वाद पुनरास्वाद्य आभीक्ष्ण्ये णमुल् प्रत्यय। पीन पुन्यमासीदभ्ये द्वे भवत' इति उपसंख्यानात् द्विरुक्ति। तृप्ति प्राप्ताऽपि अपि विरोधे अन्त नितान्त ताप न प्राप अतुला मूर्च्छामपि नानर्च्छं न प्राप, 'ऋच्छत्यृ-तामि' ति गुण। 'अत आदे रि' त्यभ्यासाखावारस्य दीर्घ। 'तस्मान्नुड्द्विहल' इति नुट्। मधुमिश्रघृतस्य विषत्वात्तत्पाने तापाभावादिति विरोध। स च पूर्वोक्ते पतङ्ग पुङ्गवगवीहैयङ्गवीन इति रूपकेणोत्थापित इति सङ्कर। 'मधुनो विषरूपत्व तुल्यांशे मधुसर्पिषी' इति वाग्भट।

समासविग्रहादि—चेतसो जन्म यस्य स चेतोजन्मा, चेतोजन्मन शर-प्रसूनानि, तेषा मधूनि ते चेतोजन्मशरप्रसूनमधूनि। अविद्यमाना सीमा यस्य तद् असीम। मृष्ट च तद् सुरभि मृष्टसुरभि। प्रेयसो दूत, स चा ऽ सो पतङ्ग, पुमाश्चासौ गौ पुंगव, तस्य गौ, प्रेयोदूतपतङ्गपतङ्गपुङ्गवगवी, प्रेयोदूतपत-ङ्गपुङ्गवगवी एव हैयङ्गवीन तत् प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन। अविद्य-माना तुला यस्या सा अतुला, ताम् अतुलाम्।

व्याकरण—आधयत्=आङ्+धिट्+लट् (शतृ) +सु। तृप्ति=तृप्+क्तिन्+अम्। स्वाद स्वाद=स्वाद्+णमुल्। आनर्च्छ=ऋच्छ+लिट्।

विशेष—कुछ टीकाकारों ने, 'तृप्ति प्राप्ता अपि अन्त नितान्त ताप न प्राप। अतुला मूर्च्छा अपि न आनर्च्छं' अर्थात् तृप्ति को पाकर भी अन्त करण में अत्यन्त ताप को नहीं पाया और अनुपम मूर्च्छा को भी नहीं पाया, इस प्रकार अर्थ किया है। ऐसा अर्थ करने पर मधु से मिश्रित घृत विष होता है, उसका पान करने से भी ताप का अभाव कहने से विरोध अलङ्कार है।

'पतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन' में रूपक अलङ्कार है। इस प्रकार विरोध और रूपक अलङ्कार का यहाँ सङ्कर है।

यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

पूर्वाभास—हंस के चले जाने पर दमयन्ती की आँखों में आँसू आ गए—

तस्या दृशो वियति बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तद्वाष्पवारि न चिरा-
दवधिर्बभूव।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे तदनेन दृष्टेराराद्पि व्यवदधे न तु
चित्तवृत्ते ॥१३१॥

अन्वय—वियति बन्धुम् अनुव्रजन्त्या तस्या दश तद्बाष्पवारि न चिरात् अवधि बभूव। तत् अनेन दृष्टे पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे, चित्तवृत्तेस्तु आरात् अपि न व्यवदधे।

शब्दार्थ—वियति=आकाश मे, बन्धु=बन्धु हंस का, अनुव्रजन्त्या=अनुगमन करती हुई, तस्या दश=उस दमयन्ती के नेत्रो का, तद्बाष्पवारि=जल, नचिरात्=शीघ्र ही, अवधि बभूव=अवधिभूत (सीमा) हुआ। तत्=अत, अनेन=हंस, दृष्टे=दृष्टि से, पार्श्वेऽपि=समीप होने पर भी, विप्रचकृषे=दूर हुआ, चित्तवृत्तेस्तु=चित्तवृत्ति से, आरात् अपि=दूर होने पर भी, न व्यवदधे=दूर नही हुआ।

अनुवाद—आकाश मे हंस का अनुगमन करती हुई उस दमयन्ती के नेत्रो का जल शीघ्र ही अवधि हुआ। अत हंस दृष्टि के समीप होने पर भी दूर हुआ और चित्तवृत्ति से दूर होने पर भी दूर नहीं हुआ।

भावार्थ—दमयन्ती की आँखो मे आँसू आ गए थे, अत हंस दृष्टि के समीप होने पर भी दूर हुआ और चूंकि वह उसके मन मे विद्यमान था, अत वह दूर होने पर भी दृष्टि मे दूर नही हुआ।

जीवातुसंस्कृतटीका—तस्या इति। वियत्याकाशे बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तस्या दशो नेत्रयोस्तद्बाष्पवारि बन्धुजनविप्रयोगजन्य तद्बाष्पजल न चिरादचिरादवधिर्बभूव, 'ओदकान्त प्रियं पान्थमनुव्रजेदि' ति शास्त्रात्तदरक् सीमाभूदित्यर्थ। तत तस्माद् बाष्पोद्गमादेव हेतोरनेन हंसेन दृष्टे पार्श्वे समीप विप्रचकृषे विप्रकृष्टेनाभावि। बाष्पावरणात् समीपस्थोऽपि नालक्ष्यतेत्यर्थ। चित्तवृत्तेस्तु आरात् दूरेऽपि न व्यवदधे व्यवहितेन नाभावि, स्नेहबन्धान्मनसो नापेत इत्यर्थ। उभयत्रापि भावे लिट्। समीपस्थस्य विप्रकृष्टत्व दूरस्थस्य संनिकृष्टत्व चेति विरोधाभास।

समासविग्रहादि—तस्या बाष्पम्, तस्य वारि तद्बाष्पवारि। चित्तस्य वृत्ति तस्या चित्तवृत्ते।

व्याकरण—अनुव्रजन्त्या =अनु+व्रज+शतृ (अत्) +ङीप्+टस्। अवधीबभूव=अवधि+च्वि+ईत्व+भू+लिट्। विप्रचकृषे=वि+प्र+कृष्+लिट्। व्यवदधे=वि+अव+धा+लिट्।

विशेष—इस पद्य मे समीप होता हुए भी दूर और दूर होते हुए भी हंस के समीप होने का वर्णन होने से विरोधाभास अलङ्कार है।

यहाँ वसन्ततिलका छन्द है।

पूर्वाभास —हंस और दमयन्ती अपने अपने गन्तव्य पर गए—

अस्तित्वं कार्यसिद्धे स्फुटमथ कथयन् पक्षयो. कम्पभेदै-
राख्यातुं वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेकः प्रतस्थे ।
कान्तारे निर्गतासि प्रियसखि ! पदवी विस्मृता किन्तु मुग्धे ?
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरूपां वयस्या ॥१३२॥

अन्वय—अथ एक पक्षयो कम्पभेदै, कार्यसिद्धे अस्तित्व स्फुट कथयन् एतत् सव वृत्त निषधनरपतौ आख्यातु प्रतस्थे । अन्यां वयस्या, 'हे प्रियसखि ! ह मुग्धे ! कान्तारे निर्गता असि, पदवी विस्मृता कि नु ? मा रोदी । एहि याम" इति उपहृतवचस (एनाम्) निन्यु ।

शब्दार्थ —अथ =अनन्तर, एक =एक (हंस) ने, पक्षयो =दोनो पखो के, कम्पभेदै =कपाने से कार्यसिद्धे =कार्य सिद्धि के, अस्तित्व=अस्तित्व को, स्फुट कथयन्=स्पष्ट कहते हुए, एतत् सव =यह सब, वृत्त =वृतान्त, निषधनरपतौ=निषध देश के राजा नल से, आख्यातु =कहने के लिए, प्रतस्थे=प्रस्थान किया । अन्या=दूसरी दमयन्ती को, वयस्या=सखियो ने, 'ह प्रियसखि=हे प्रियसखी !, हे मुग्धे=ह मूढ चित्त वाली ! कान्तारे=जगल मे, निर्गता असि=निकल आई हो, पदवी=मार्ग, विस्मृता कि नु ?=भूल गई क्या ? मा रोदी=मत रोओ । एहि=आओ, याम =चलें, इति=इस प्रकार उपहृतवचस =वचन कहकर, (एनाम् =इसे), निन्यु =ले गई ।

अनुवाद—अनन्तर एक (हंस) ने दोनों पखों के कपाने से कार्यसिद्धि के अस्तित्व को स्पष्ट कहते हुए यह सब वृत्तान्त निषध देश के राजा नल से कहने के लिए प्रस्थान किया । दूसरी को सखियों, हे प्रियसखी ! हे मूढचित्त वाली ! तुम जगल मे निकल आई हो, क्या मार्ग भूल गई थी ! मत रोओ, चलो, इस प्रकार वचन कहकर ले गई ।

जीवातु संस्कृत टीका—अस्तित्वमिति । अथ एक अनयोरेकतरो हंस पक्षयो कम्पभेदैस्चेष्टाविशेषै कार्यसिद्धेरस्तित्व सत्ताम् 'अस्ती' त्यव विद्यमान पदार्थस्तस्मात्वप्रत्यय । स्फुट कथयन् वृत्त निष्पन्नमेतत्सर्व निषधनरपतौ नले विषये आख्यातु तस्मै निवेदयिष्यमित्यथ , प्रतस्थे । अन्यां दमयन्ती वयसा तुल्या वयस्या सख्य "नौवयो" यत्प्रत्यय । 'हे प्रियसखि ! मुग्धे ! कान्तारे विपिने निर्गतासि मद्रूट प्रविष्टासि, पदवी विस्मृता किम् नु ? मा रोदी, एहि, याम इत्युपहृतवचसा दत्तवचना सत्य एनाम् निन्यु ।

समासविग्रहादि--कम्पस्य भेदा तैः कम्पभेदैः। कार्यस्य सिद्धिः; तस्याः, कार्यसिद्धेः। नराणां पतिः नरपतिः। निषधानां नरपतिः, तस्मिन्, निषध-नरपतौ, वयसा तुल्या वयस्या। प्रिया चासौ सखी प्रियसखि। उपहृतं वचो यामिस्ता उपहृतवचस।

व्याकरण--कथयन्=कथ+णिच्+लट् (शतृ) सु। विस्मृता=वि+स्मृ+क्त+टाप्+सु। याम=या+लट्+मस्। निन्यु=नी=लिट्+झि।

विशेष--इस पद्य में पक्षों का विशेष प्रकार से चलाने की कल्पना की गई है, अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

यहाँ सम्धरा छन्द है।

पूर्वाभास--हंस ने जाकर काम सन्तप्त राजा नल को देखा--

सरसि नृपमपश्यद्यत्र तत्तीरभाजं स्मरतरलमशोकानोकहस्योपमूलम्।
किसलयदलतल्पम्लापिनं[1] प्राप तं स ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्धिमौले ॥१३३॥

अन्वय--स यत्र सरसि नृपम् अपश्यत् तत्तीरभाजं ज्वलदसमशरेषु-स्पर्धिपुष्पर्धिमौले, अशोकानोकहस्य उपमूलम् स्मरतरलम् किसलयदल तल्प म्लापिनम् तम् प्राप।

शब्दार्थ--स,=उस हंस ने यत्र=जहाँ, सरसि=तालाब पर, नृपम्=राजा को, अपश्यत्=देखा था, तत्तीरभाजं=उसके किनारे पर स्थित, ज्वलद-समशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौले=जलते हुए कामदेव के बाणों से स्पर्द्धा करने वाले फूलों से युक्त चोटी वाले, अशोकानोकहस्य=अशोक वृक्ष के, उपमूलं=नीचे, स्मरत-रलम्=कामदेव से चञ्चल, किसलदलतल्पम्लापिन=पल्लवों के पत्ते की शय्या को म्लान करने वाले, तम् प्राप=राजा को प्राप्त किया।

अनुवाद--उस हंस ने जहाँ तालाब पर राजा को देखा था, उसके किनारे पर स्थित, जलते हुए कामदेव के बाणों से स्पर्द्धा करने वाले फूलों से युक्त चोटी वाले अशोक वृक्ष के नीचे कामदेव से चञ्चल पल्लवों की शय्या को म्लान करने वाले राजा को प्राप्त किया।

---

१ म्लापिन

भावार्थ—हम ने जाकर राजा को उसी तालाब के किनारे पाया, जहाँ उसे पहले देखा था। वहाँ वह अशोक वृक्ष के नीचे विद्यमान था। उस अशोक वृक्ष का शिखर फूलों से युक्त। लाल रंग वाले पुष्पों को देखकर कवि कल्पना करता है कि मानो वे पुष्प कामदेव के बाणों से स्पर्द्धा कर रहे थे। नल का कामज्वर इतना तेज था कि अशोक के कोमल लाल पत्ते म्लान हो गए थे।

जीवातु संस्कृत टीका—सरसीति। हंसो यत्र सरसि नृपमपश्यत् दृष्टवान् तस्य सरसस्तीरभाजस्तटरहस्य ज्वलद्भिरसमशरस्य पञ्चेषोरिषुभिः स्पर्द्धत इति तत्स्पर्द्धिनी तद्वती। पुष्पर्द्धि पुष्पसमृद्धि मौलि शिखरं यस्य तस्याशोकानोकहस्य अशोकवृक्षस्य उपमूलं मूले विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः। स्मरेण तरलं चञ्चलं किसलयदलतल्पं पल्लवपत्रशयनं म्लापयति स्वाङ्गदाहेन ग्लापयतीति तथोक्तं तं नृपं प्राप।

समासविग्रहादि—तस्य तीरं, तत् भजतीति तत्तीरभाक्, तस्य तत्तीरभाजः। न समाः असमाः, असमाः शराः यस्य सः, तस्य इषवः, ज्वलन्तश्च ते असमशरेषवः, तान् स्पर्द्धते इति ज्वलदसमशरेषुस्पर्द्धिनी, ज्वलदसमशरेषुस्पर्द्धिनी चासौ पुष्पर्द्धिः, सा मौलौ यस्य सः, तस्य ज्वलदसमशरेषुस्पर्द्धिपुष्पर्द्धिमौलेः। अशोकश्चासौ अनोकहः तस्य अशोकानोकहस्य। मूलस्य समीपे उपमूलं। स्मरेण तरलं स्मरतरलं। किसलयानां दलानि, तेषां तल्पं, तत् म्लापयतीति तच्छील तम् किसलयदलतल्पम्लापिनं।

व्याकरण—ऋद्धिः=ऋध्+क्तिन्। प्राप=प्र+आप्+लिट्। स्पर्द्धिनी=स्पर्ध+णिनि+ङीप्।

विशेष—यहाँ अशोक के फूलों की समता कामदेव के जलते बाणों से की गई है, अतः उपमा अलङ्कार है।

इस पद्य में मालिनी छन्द है।

पूर्वाभास—उन्मत्त की भाँति नल कहता है—

परवति! दमयन्ति! त्वां न किञ्चिद्वदामि।<br>
द्रुतमुपनय किं मामाह सा शंस हंस!<br>
इति वदति नलोऽसौ तच्छ्रवासोपनम्रः।<br>
प्रियमनु सुहृना हि स्वस्पृहाया विलम्बः॥१३४॥

अन्वय—हे परवति दमयन्ति ! त्वा किञ्चित् न वदामि। हे हम ! द्रुतम् उपनय सा मा किं आह ? शस । इति वदति नले असौ उपनम (सन्) तत् शशास । हि सुकृताम् प्रियम् अनु स्वस्पृहाया विलम्ब (भवति)।

शब्दार्थ —हे परवति दमयन्ति ! =हे पराधीन दमयन्ती, त्वा=तुमसे, किञ्चित् न वदामि=कुछ भी नहीं कहता हूँ। हे हस ! =हे हम, द्रुतम् =शीघ्र ही, उपनम=आओ, सा=दमयन्ती ने, मा=मुझसे, किं=क्या आह ?=कहा ? शस=कहो, इति वदति नले=नल के ऐसा कहने पर, असौ=उस हस ने, उपनम्र सन्=समीप आकर, तत् शशास=उस वृत्तान्त को कहा। हि=क्योंकि, सुकृताम्=पुण्यात्माओं की, प्रियम् अनु=प्रिय वस्तु के प्रति, स्वस्पृहाया = अपनी इच्छा का, विलम्ब (भवति)=विलम्ब होता है।

अनुवाद—हे पराधीन दमयन्ती ! तुमसे (मैं) कुछ भी नहीं कहता हूँ। हे हस ! शीघ्र ही आओ। उस दमयन्ती ने मुझसे क्या कहा ? कहो। नल के ऐसा कहने पर उस हस ने समीप आकर उस वृत्तान्त को कहा , क्योंकि पुण्यात्माओं की प्रिय वस्तु के प्रति अपनी इच्छा का ही विलम्ब होता है, अर्थात् वस्तु की प्राप्ति का विलम्ब नहीं होता है।

जीवातुमस्कृतटीका—परवतीति परवति ! पराधीने दमयन्ति ! त्वा न किञ्चिद्वदामि नोपालभे किन्तु हे हस ! द्रुत शीघ्रमुपनय आगच्छ, सा दमयन्ती मा किमाह, शस कथयेति नले वदति भ्रान्त्या पुरोवर्तितमिव सम्बोध्य आलपति सति। असौ हस उपनम्र पुरोगत सन् कार्यंश तत् वृत्त शशास कथयामास। तथाहि सुकृता साधुकारिणा 'सुकर्मपापपुण्येषु कृञ्' इति क्विप्। प्रियमनु इष्टार्थ प्रति स्वस्पृहाया स्वेच्छाया एव विलम्ब । न तिवच्छानन्तर तत्सिद्धे विलम्ब इति भाव, सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ।

समासविग्रहादि—स्वस्य स्पृहा स्वस्पृहा, तस्या स्वस्पृहाया ।

व्याकरण—परवति=पर+मतुप्+ङीप् (सम्बुद्धौ)। वदामि=वद्+लट्+मिप्। शशास=शस्+लिट्+तिप्। वदति=वद+लट् (शतृ)+ङि।

विशेष—इस पद्य मे सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

यहाँ मालिनी छन्द है।

पूर्वाभास—नल ने हस से मत्त व्यक्ति के समान पुन पुन पूछा—

कथितमपि नरेन्द्रश्शंसयामास हंसं
किमिति किमिति पृच्छन् भाषित स प्रियायाः।
अधिगतमतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्त
स्त्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथाऽन्वाचचक्षे ॥१३५॥

अन्वय—स नरेन्द्र कथितम् अपि प्रियाया भाषित किमिति किमिति पृच्छन् हंस शंसयामास। अतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्त (सन्) अधिगत तत् स्वयम् अपि शतकृत्वा अन्वाचचक्षे।

शब्दार्थ—स नरेन्द्र =उन राजा नल ने, कथितम् अपि=कहे गए भी, प्रियाया भाषित=प्रिया के वचनो को किमिति, किमिति =क्या, क्या इस प्रकार, पृच्छन्—पूछते हुए हंस=हंस से, शंसयामास=पुन कहलाया। अतिवेलानन्द-मार्द्वीकमत्त =अत्यन्त आनन्द रूप द्राक्षामद्य से मत्त होकर, अधिगत = भली प्रकार ग्रहण किए गए, तत्=हंस के द्वारा कहे गए दमयन्ती के वचनो को, स्वयम् अपि=स्वयं भी, शतकृत्वा =सैकडो बार, अन्वाचचक्षे=दुहराया।

अनुवाद —उन राजा नल ने कहे गए भी प्रिया के वचनो को क्या, क्या ? इस प्रकार पूछते हुए हंस से पुन कहलाया। अत्यन्त आनन्द रूप द्राक्षामद्य से मत्त होकर भली प्रकार ग्रहण किए गए हंस के द्वारा कहे गए दमयन्ती के वचनो को स्वयं भी सैकडो बार दुहराया।

जीवातु संस्कृत टीका—कथितमिति। स नरेन्द्र नल कथितमपि प्रियाया दमयन्त्या भाषित वचन किमिति। किमिति पृच्छन् हंस शंसयामास, पुनराख्यापयामास, किं च अतिवेल अतिमात्रो य आनन्द स एव मार्द्वीक मृद्वी-काविकारो द्राक्षामद्य मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षे' त्यमर। तेन मत्त सन् अधिगत सम्यग् गृहीत तदुक्त स्वयमपि शतकृत्व शतवार 'सख्याया क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्। तथा तदुक्तप्रकारेण अन्वाचचक्षे अनूदितवान्। मतोऽप्युक्तमेव पुन पुनर्व-क्तीति भाव।

समासविग्रहादि—नराणाम् इन्द्र नरेन्द्र अतिवेलश्चासौ आनन्द, मृद्वीकाया विकारा मार्द्वीकम्, अतिवेलानन्द एव मार्द्वीक तेन मत्त इति अतिवेला-ऽऽनन्दमार्द्वीकमत्त।

व्याकरण—शंसयामास=शंस+णिच्+लिट्+तिप्। अन्वाचचक्षे= अनु+आङ्+चक्षिङ्+लिट्+त।

विशेष —यहां आनन्द पर माद्वीकत्व का आरोप है, अत रूपक है। इस पद्य मे मालिनी छन्द है।

पूर्वाभास—तृतीय सर्ग की परिसमाप्ति—

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तार्तीयीकतया मितोऽयमगमत् तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्जवल ॥१३६॥

अन्वय—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर श्रीहीर मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचय य श्रीहर्ष सुत सुषुवे। तस्य प्रबन्धे चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अय तार्तीयीकतया मित निसर्गोज्ज्वल सर्ग अगमत्।

शब्दार्थ —कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर =श्रेष्ठ कवियो की मण्डली के मुकुट के हीरे का स्वरूप, श्रीहीर =श्री हीर, च=और, मामल्लदेवी च=और मामल्लदेवी ने, जितेन्द्रियचय=इन्द्रिय समूह को जीतने वाले, य श्री हर्ष=जिस श्री हर्ष, सुत=पुत्र को, सुषुवे=उत्पन्न किया। तस्य=उनकी, प्रबन्धे=रचना मे चारुणि=सुन्दर, नैषधीनचरिते=नैषधीयचरित, महाकाव्ये=महाकाव्य मे, अय=यह, तार्तीयीकतया=तृतीय रूप से, मित =परिमित, निसर्गोज्ज्वल = स्वभाव से सुन्दर, सर्ग अगमत्=सर्ग समाप्त हुआ।

अनुवाद—श्रेष्ठ कवियो की मण्डली के मुकुट के हीरे स्वरूप श्रीहीर और मामल्लदेवी ने इन्द्रियसमूह को जीतने वाले जिस श्रीहर्ष पुत्र को उत्पन्न किया। उनकी रचना मे सुन्दर नैषधीयचरित महाकाव्य मे यह तृतीय रूप से परिमित स्वभाव से सुन्दर सर्ग समाप्त हुआ।

जीवातु संस्कृत टीका —श्रीहर्षमित्यादि। तृतीय एव तार्तीयीक। द्वितीयतृतीयाभ्यामीकक् स्वार्थे वक्तव्य' तस्य भावस्तत्ता तया मितस्तृतीय इत्यर्थ। शेष सुगमम्।

इति मल्लिनाथ सूरिविरचिताया 'जीवातु समाख्याया नैषध' टीकाया तृतीय सर्ग।

— • —